रश्मि प्रकाशन

मीडिया में दलित

मीडिया में दलित

संजय कुमार

रश्मि प्रकाशन

रश्मि प्रकाशन
204, सनशाइन अपार्टमेंट,
बी-3, बी-4, कृष्णा नगर, लखनऊ-226023
मोबाइल : 08756219902, ईमेल : rashmiprakashan2017@gmail.com

मीडिया में दलित

© : संजय कुमार

पहला संस्करण : 2019

सहयोग राशि : 200 रुपये

~~ISBN : 978-93-87773-31-8~~

प्रकाशक

रश्मि प्रकाशन

204, सनशाइन अपार्टमेंट,

बी-3, बी-4, कृष्णा नगर, लखनऊ-226023

मुद्रक

आशी प्रिंटर्स, लखनऊ

Media me Dalit

by Sanjay Kumar

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। प्रकाशक/लेखक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश की फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनर्प्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

बाबा साहेब
डॉ. भीमराव आम्बेडकर को समर्पित

तरतीब

मीडिया में दलित, ढूँढ़ते रह जाओगे	16
मीडिया में दलित आ भी गये, तो करेंगे क्या	26
मीडिया में दलित, दलितों का मीडिया	35
दलित मीडिया एडवोकेसी	40
आलोचना नहीं, हतोत्साहित करना मक़सद	45
मीडिया में दलित आंदोलन...	59
दलित पत्रकारिता	67
दलित पत्रकारिता की दिशा	72
दलितों का हो अपना मीडिया	75
सामाजिक न्याय और मीडिया	81
दलित सवालों की अनदेखी	86
दलितों से मुँह फेरता मीडिया	91
सोशल मीडिया और दलित विरोध	97
मीडिया भी जाति देखता है	102
काले धंधे के रक्षक	105
ख़बर का भुनाया जाना	114
जाति की जय हो	120
द्विज समाज की दूषित सोच	125
कहाँ है मीडिया	129
दलित उत्पीड़न कब तक	132
'दीन-दलित' का संघर्ष	134
मीडिया का नज़रिया ढुलमुल	136
कहर दलितों पर, मीडिया की खामोशी	140
मीडिया में डॉ. आम्बेडकर	143
कब दूर होगी दलितों की शिकायत	148

भूमिका

मीडिया में दलित का सवाल बीसवीं सदी के अंतिम दशक में मुखर होकर उभरने लगा। कुछ वरिष्ठ पत्रकारों-शोधार्थियों ने यह देखने की कोशिश की कि मुख्यधारा की मीडिया में विभिन्न सामाजिक तबक़ों की हिस्सेदारी कैसी है? जाहिर है, चौंकाने वाले तथ्य सामने आये। दलित तबक़े की हिस्सेदारी इतनी ही थी कि उसे रेखांकित करने का कोई मतलब नहीं था। इसका मतलब बस यही है कि पहली दफ़े यह सवाल सबके समाने आया। वास्तव में यह सवाल डायवर्सिटी (बहुरूपता या विविधता) से जुड़ा है। जब हम अपने सामाजिक जीवन में आस-पास देखते हैं, तो विभिन्न जातियों, अलग-अलग धर्मावलंबियों, अलग राजनैतिक-वैचारिक मतों को मानने वाले लोगों को पाते हैं। हम यह भी पाते हैं कि धन-संपदाओं के लिहाज़ से भयानक स्तर की असमानता या विभेद मौजूद हैं। ऊँच-नीच का नज़रिया बना हुआ है। शिक्षा और रोज़गार के मामले में भी अत्यंत विषमता मौजूद है।

मीडिया में विविधता के प्रश्न को सामाजिक जीवन की असमानताओं के आलोक में ही देखा जाना चाहिए। जीवन के दूसरे विभिन्न क्षेत्रों में निम्न जातियों की जो हालत है, मीडिया का क्षेत्र भी उससे जुदा नहीं है। जाहिर है, दूसरी नौकरियों की तुलना में मीडिया में दलित या निम्न जातियों की हिस्सेदारी गिनने लायक बनी हुई है। संजय कुमार ने इसके पूर्व 'मीडिया में दलित, ढूँढ़ते रह जाओगे' पुस्तक में इसकी शिनाख़्त की थी। इस पुस्तक में भी मीडिया में दलितों के सवालों को खंगालने का काम हुआ है। लगातार इस दिशा में विमर्श लाया जा रहा है।

वहीं देखा जाये, तो शिक्षा पर जिन तबक़ों का वर्चस्व रहा, उन तबक़ों की मौजूदगी

हर जगह देखी जा सकती है। मीडिया भी इससे अछूता नहीं है। लिहाज़ा, मीडिया में दलितों या निम्न जाति की हिस्सेदारी को एकांगी होकर देखने की ज़रूरत नहीं है। सरकारी या गैर-सरकारी क्षेत्रों में नौकरी के अवसरों की सीढ़ी क्षैतिज कहाँ बन पायी?

राजनीति या सरकारी नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था ने ज़रूर थोड़ी-बहुत तस्वीर बदली है, पर मीडिया में दलित या निम्न तबक़ों के लिए अवसरों की कमी बनी हुई है, तो उसके कारण भी मौजूद हैं। इस तबक़े का पढ़ा-लिखा हिस्सा सरकारी नौकरियों को प्राथमिकता देता है। हैरानी की बात है कि वह सांस्कृतिक तौर भी पारम्परिक अभिव्यक्तियों का शिकार हो जाता है। गले में सोने की चेन और हाथ में लाल बद्धी अपनाने का रिवाज़ उसे दूसरी गुलामी की ओर ले जा रहा है। दरअसल, यह मानस भी सामाजिक जीवन के कार्य-व्यवहार से ही संचालित होता है। दलित या निम्न जातियों की राजनीति का रवैया भी इस मामले में सकारात्मक नहीं रहा है। मीडिया को दूसरी अन्य नौकरियों की तरह मान लेना ठीक नहीं है। सामाजिक पायदान के हिसाब से नीचे के कई लोगों ने मुख्यधारा की मीडिया में अपनी क्षमता से जगह बनायी। इस तथ्य को भला कोई कैसे नकार सकता है? पर सामान्य तौर पर दलित या निम्न तबक़ों की मीडिया में एंट्री के लिए खुद मीडिया की अंदरुनी संरचना ही तैयार नहीं है। आज भी दुराग्रह की असीमित परतें मौजूद हैं, जो इस क्षेत्र में आने की रुचि रखती हैं, उनके लिए अनेक 'आयरन गेट' खड़े हैं, उसे पार करना मुमकिन नहीं है। मीडिया में सामाजिक समूहों की विविधताभरी हिस्सेदारी न होना, इसके स्वरूप के लिए भी पाखंडपूर्ण है। यह मीडिया के लिए संकट और ख़तरा दोनों है। कुछ गिने-चुने लोगों ने ज़रूर मीडिया के स्वरूप को विविधतापूर्ण बनाने की सचेतन कोशिश की, लेकिन यह मीडिया का आम चलन नहीं बन पाया है।

अजय कुमार

(सम्पादक, प्रभात खबर, पटना)

दो शब्द

मीडियाकर्मी संजय कुमार ने मीडिया की मनुवादी मानसिकता को बेनकाब करते हुए प्रस्तुत ग्रंथ में बड़े ही सशाक्त तरीके से इस तथ्य को जगजाहिर किया है कि भारतीय मीडिया में दलितों के प्रदेश पर 'अघोषित प्रतिबंध' है। साथ ही दलितों के सवालों के सतही प्रकाशन पर भी जातीय दुराग्रह बरकरार है। खोजी प्रवृति के विद्वान लेखक संजय कुमार की तीक्ष्ण दृष्टि मीडिया की उन जातिवादी ज्यादतियों को भी देख पाती है, जो आम जन को नहीं दिख पाती। उनके अथक परिश्रम से प्रकाशन में आये इस ग्रंथ 'मीडिया में दलित' के माध्यम से ही हम इस कड़वी सच्चाई से रू-ब-रू हो पाये हैं कि किस तरह से भारतीय मीडिया दलितों के प्रवेश पर अघोषित प्रतिबंध लगाता है। किस तरह से मीडिया काले धंधे की रक्षा करता है। किस तरह से दलितों के सवालों की अनदेखी करता है तथा किस तरह से वह दलित आंदोलन के समाचारों को ब्लैक आउट करता है।

संजय कुमार की यह सोच निर्मूल नहीं है। मैंने स्वयं हिमाचल, पंजाब और दिल्ली में दैनिक समाचार पत्रों में कार्य किया है और डेस्क पर विराजमान मनुवादी मानसिकता के समाचार संपादकों को दलितों और दलित आंदोलन से संबंधित समाचारों को मुँह बिचकाते हुए रद्दी की टोकरी में फेंकते हुए देखा है। 'मीडिया में दलित' यह विषय मेरे स्वयं के लिए इस मनुवादी मीडिया जगत की पुरानी दुःखद यादों के अधभरे जख़्मों को हरा कर देने वाला शीर्षक है। इसके तहत संजय कुमार ने सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि मीडिया हाउस के मालिक सवर्ण हैं। वहाँ पर ऊँचे पदों पर सवर्ण ही आसीन हैं और उन्होंने ऐसा चक्रव्यूह रच रखा है कि किसी दलित का या तो वहाँ पहुँच पाना ही

असंभव होता है और यदि पहुँच भी जाए, तो टिके रहना। मैं इसका भुक्तभोगी रहा हूँ। जालंधर से छपने वाले 'उत्तम हिन्दू' दैनिक समाचार पत्र में कार्य करते हुए मैंने वहाँ सवर्ण सहकर्मियों के जातीय दंशों को झेला है। अंततः मुझे वहाँ से शीघ्र ही हटना भी पड़ा था। उसके बाद मैंने दिल्ली में आई.टी.ओ. स्थित दैनिक 'पब्लिक एशिया' में समाचार संपादक के तौर पर कार्य किया। साथ ही मैं उसके दिल्ली पृष्ठ पर एक दैनिक कॉलम भी लिखता था। जब तक मेरे सहयोगियों को मेरी जाति का पता नहीं चला, मैं वहाँ पर कार्य करता रहा। मेरी जाति का भेद खुलते ही न केवल मेरा दैनिक कॉलम ही बंद कर दिया गया, अपितु ऐसे हालात बना दिये गये कि मुझे वहाँ से हटना पड़ा। मेरे साथ ही मुझे वहाँ पर काम दिलाने वाले मेरे मित्र विनोद आशीष को भी हटना पड़ा था।

मीडिया दलित आंदोलन या दलितों की समस्याओं को ब्लैक आउट करता है, इसकी चर्चा तो बाबा साहेब के समय से लेकर मान्यवर कांशीराम जी तक खूब रही। बाबा साहेब ने इस भारतीय मीडिया को 'बंच आफ ब्राह्मिन बॉयज' कहा था, तो साहब कांशीराम जी ने इसे 'मनुवादी मीडिया' या 'हिन्दू मीडिया' जैसे संबोधन भी दिये थे। मुझे याद पड़ता है कि केन्द्र में भाजपा शासन के दौरान साहब कांशीराम जी ने प्रसार भारती के सामने प्रदर्शन करते हुए उसे 'भाजपा भारती' की संज्ञा दी थी। मीडिया के रिश्ते बहुजन समाज के प्रति कैसे अनमने रहते आये हैं, इस पर विस्तार से मैंने अपनी पुस्तक 'बहुजन समाज पार्टी बनाम भारतीय मीडिया' में प्रकाश डाला है। लेकिन लगभग एक दशक से कुछ दलित बुद्धिजीवियों ने मीडिया में दलित मुद्दों को बड़े जोर-शोर से उठा रखा है। यह एकदम मौलिक और सामयिक मुद्दे हैं, जिसके तहत पड़ताल की गयी है कि मीडिया में दलितों की भूमिका नगण्य है। इस मुद्दे को उठाने वाले बुद्धिजीवियों में संजय कुमार का नाम अग्रणी है। मैं पिछले कई सालों से मीडिया पर आधारित इनके लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बड़े चाव से पढ़ता रहा हूँ।

साहब कांशीराम जी के आंदोलन के बाद से दलित समाज में शासक बनने की भावना उत्तरोत्तर बलवती होती चली जा रही है। दलितों द्वारा पाँच वर्ष तक उत्तर प्रदेश की सत्ता में रहने के बाद यह सच्चाई निकलकर सामने आयी है कि लोकतंत्र के चारों स्तंभों पर कब्ज़ा किये बग़ैर दलित इस देश के वास्तविक शासक नहीं बन सकते। इन चारों स्तंभों में मीडिया की भूमिका प्रमुख है, क्योंकि मीडिया ही किसी की छवि बनाता है और किसी की भी छवि बिगाड़ता है। मीडिया पर कब्ज़ा करके ही दलित सर्व समाज में अपने नेताओं, अपनी पार्टियों की सुंदर छवि का निर्माण कर सकते हैं।

लेखक संजय कुमार ने अपने इन शोध-आलेखों में कुछ बहुत ही चौंकाने वाले तथ्य दिये हैं, जो आगे चलकर नयी बहसों को जन्म देंगे। इसके तहत पत्रकारिता की जातिवादी मानसिकता को पहली बार आड़े हाथों लिया गया है। इस शोध के बाद यह तथ्य भी निकल कर सामने आया है कि लोकतंत्र के चौथे स्तंभ मीडिया में ही सच्चा

लोकतंत्र नहीं है। वहाँ पर अघोषित मनुवादी तानाशाही मौजूद है।

मेरे विचार में भारतीय मीडिया में दलितों की भागीदारी दो ही तरीकों से हो सकती है। विदेशी मीडिया के भारत में आगमन के विरूद्ध मनुवादी लोग हो-हल्ला मचाते हैं। मैं समझता हूँ कि दलित समाज को इसके पक्ष में एकजुट होना चाहिए और भारत सरकार पर दबाव बनाना चाहिए कि वह विदेशी मीडिया को भारत में निवेश की इज़ाज़त दे, ताकि विदेशी लोग भारत में अपने प्रकाशन एवं प्रसारण संस्थान खड़े करें। इससे मीडिया में दलितों की भागीदारी का मार्ग सुगमता से प्रशस्त होगा। दूसरा डाइवर्सिटी अभियान के तहत ही इस बहस को भी उठाना होगा कि वे मीडिया संस्थान दलितों के लिए स्थान आरक्षित करें, जो सरकार की तरफ से विज्ञापन तथा काग़ज़ का कोटा हासिल करते हैं। ऐसा न करने वालों के विरूद्ध कार्यवाही करते हुए सरकार इनको ये सुविधाएं प्रदान करना बंद करे। दलित समाज संगठित होकर यदि सरकार पर दबाव बनाये, तो सरकार ऐसा कर सकती है। इन तरीकों से ही 'मीडिया में दलित ढूँढते रह जाओगे' संजय कुमार की इस चिंता से मुक्ति मिल पाएगी। तभी दलित प्रखर मीडियाकर्मी बनकर समाज का गौरव बढ़ा पाएंगे तथा अपने समाज के सवालों को भी सही ढंग से सर्व समाज के सामने रख पाएंगे।

अंत में इस अछूते विषय पर शोध कार्य करने के लिए मैं भाई संजय कुमार को साधुवाद देना चाहूँगा। यह पुस्तक 'दलित पत्रकारिता' में मील का पत्थर साबित होगी, मेरी ऐसी कामना है। आशा है कि पाठक इसका पुरजोर स्वागत करेंगे।

—सतनाम सिंह
वरिष्ठ दलित साहित्कार
मो. न. : 09968444792,
08130279517

अपनी बात

'मीडिया में दलित', सच है, आप ढूँढ़ते रह जाएंगे, लेकिन गिनती के पत्रकार मिलेंगे! वह भी छोटे ओहदों पर। भारतीय मीडिया पर ऊँची जाति का कब्ज़ा शुरू से ही बरकरार रहा है। किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में मीडिया की अहम भूमिका होती है और समाज के सर्वांगिण हित की बात होती है, लेकिन एक वर्ग के प्रति उपेक्षा का व्यवहार क्या उचित है? मीडिया के राष्ट्रीय सर्वेक्षण से बात साफ़ हो चुकी है कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े वर्ग की जनसंख्या की तुलना में सवर्णों के कम होने के बावजूद मीडिया पर सवर्ण ही काबिज हैं।

सवाल, बराबरी-ग़ैर बराबरी का खड़ा हो जाता है। यह सवाल मीडिया ही नहीं हर क्षेत्र में दिखता है। और तो और, आरक्षण के बावजूद सरकारी सेवा में भी उच्च पदों पर अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति का प्रतिशत सवर्णों से बहुत पीछे है। समाज में सदियों से व्याप्त बराबरी-ग़ैरबराबरी और वंचितों को मुख्यधारा से अलग-थलग रखने की तथाकथित साज़िश आज भी बरकरार है। समाज की बागडोर अपने पास रखने वाले सवर्ण समाज ने जातिगत व्यवस्था को तोड़ने में कोई अहम भूमिका नहीं निभायी। हालाँकि, इसके लिए सभी सवर्णों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। सवर्णों में कई लोग वंचितों के लिए काम कर रहे हैं।

1914 में हीरा डोम की लिखी कविता 'अछूत की शिकायत' आज भी प्रासंगिक है। जब देश के किसी कोने में वंचितों के साथ शोषण व अन्याय को दोहराया जाता है, इस अन्याय के खिलाफ भारतीय मीडिया का धारदार व निष्पक्ष तेवर कहीं नहीं दिखता। ऐसे में अरोप का लगना लाजिमी है। दलितों की संवेदना, पीड़ा, शोषण-

अन्याय के प्रति आवाज़ बुलंद करने की कोशिश इस पुस्तक में दलित पत्रकारिता के विभिन्न पहलुओं को रेखांकित करते हुए की गयी है। जाहिर है, मामला गंभीर है। बराबरी-ग़ैरबराबरी के सवाल को उठाने पर विरोध के स्वरों से दो-चार होना पड़ा। खासकर सवर्ण समाज के कुछ लोगों ने आलेखों को समाज को तोड़ने, नफ़रत पैदा करने और पूर्वाग्रह से ग्रसित बताया।

घटनाक्रमों और हालातों से रू-ब-रू होने के बाद मुद्दे को आलेख के रूप में लाया। मक़सद, समाज में व्याप्त बराबरी-ग़ैरबराबरी के फासले को पाटने का है, किसी जाति-धर्म-संप्रदाय को निशाना बनाना नहीं। जब तक हाथ को, हाथ का सहारा नहीं मिलेगा समाज-देश आगे नहीं बढ़ सकता। केवल सरकारी प्रयास काफी नहीं हैं। हमें आगे आना होगा और जाति व्यवस्था की मज़बूत दीवार को ढाहना होगा।

पुस्तक, आलेखों का संग्रह है, जो अलग-अलग समय में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे हैं। ऐसे में कुछ तथ्यों का दोहराव कई आलेखों में है। मुद्दा एक ही है, दलित सरोकारों की अनदेखी। आग्रह है, दोहराव को नजरअंदाज़ करें। 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' संस्करण पर खट्टी या मीठी प्रतिक्रिया मिली। किसी ने खारिज किया, तो किसी ने सराहा। सैकड़ों फोन आये। जहाँ इसे सराहा गया वहीं कुछ ने आलोचना भी की। आलोचना के कुछ पक्षों पर मसलन दलित पत्रकारों के साथ दोहरे मापदण्ड अपनाये जाने पर सामग्री माँगी, मैंने कई लोगों को मेल आदि से संपर्क कर सहयोग माँगा, लेकिन दुःख की बात है कि नहीं मिला। खैर, मेरा मक़सद साफ़ है, मीडिया में बराबरी-ग़ैर बराबरी का जो सवाल है, उसे उठाना। 'मीडिया में दलित' पुस्तक 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' की अगली कड़ी है। सवाल उठता है कि जब पुस्तक 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' है ही, तो फिर पुस्तक 'मीडिया में दलित' की क्या आवश्यकता है? जाहिर है, जो विमर्श हुआ, बहस चली, सवाल उठा, उसे इसमें शामिल किया गया है। हालात नहीं बदले हैं और जब तक बदलेंगे नहीं, सवाल तो समाने आएंगे ही। सवाल एक बार फिर सामने रखा गया है ताकि मीडिया में दलितों के प्रवेश और बराबरी को लेकर रास्ते तय हों। आशा है, इस पर भी आपकी खट्टी या मीठी प्रतिक्रिया मिलेगी।

संजय कुमार
पटना

मीडिया में दलित, ढूँढ़ते रह जाओगे

आजादी के दौरान दलितों के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रयास विभिन्न आयामों पर शुरू हुए थे। जहाँ ज्योतिबा फुले इसके अग्रदूत थे, वहीं भारतीय संविधान के जनक और दलितों के महानायक डॉ. भीम राव आम्बेडकर ने दलित चेतना को एक नयी दिशा दी। ब्राह्मणवादी संस्कृति को चुनौती देते हुए दलितों को मुख्यधारा में लाने का जो प्रयास हुआ, उससे दलित समाज में एक नयी चेतना का संचार हुआ। धीरे-धीरे लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपने को गोलबंद कर ब्राह्मणवादी व्यवस्था को धकेलने का प्रयास शुरू हुआ। दलित-पिछड़ों ने सामाजिक व्यवस्था में समानता को लेकर अपने को गोलबंद किया। हालाँकि आजादी के बाद की आधी सदी से अधिक बीत जाने के बाद भी समाज के कई क्षेत्रों में आज भी असमानता का राज कायम है।

आरक्षण के सहारे कार्यपालिका, न्यायपालिका, विधायिका आदि में दलित आये, लेकिन आज भी इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोकतंत्र के चौथे खम्भे पर काबिज़ होने में दलित पीछे ही नहीं, बल्कि बहुत पीछे हैं। आँकड़े इस बात के गवाह हैं कि भारतीय मीडिया में वर्षों बाद आज भी दलित-पिछड़े हाशिये पर हैं, उनकी स्थिति सबसे ज्यादा खराब है। कहा जा सकता है कि मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे...। गिने-चुने ही दलित मीडिया में हैं और वह भी उच्च पदों पर नहीं। भारतीय मीडिया में दलित और आदिवासी, फैसला लेने वाले पदों पर नहीं हैं। राष्ट्रीय मीडिया के 315 प्रमुख पदों पर एक भी दलित और आदिवासी नहीं हैं।

'राष्ट्रीय मीडिया पर ऊँची जातियों का कब्ज़ा' के तहत हाल ही में आये सर्वे ने

मीडिया जगत से जुड़े दिग्गजों की नींद उड़ा दी थी। आरोप-प्रत्यारोप का दौर भी चला। किसी ने समर्थन में दलित-पिछड़ों को आगे लाने की पुरजोर शब्दों में वकालत की, तो किसी ने यहाँ तक कह दिया कि भला किसने उन्हें मीडिया में आने से रोका है। मीडिया के दिग्गजों ने जातीय असमानता को दरकिनार करते हुए योग्यता का ढोल पीटा और अपना गिरेबान बचाने का प्रयास किया।

दलित-पिछड़े केवल राष्ट्रीय मीडिया से ही दूर नहीं हैं, बल्कि राज्य स्तरीय मीडिया में भी उनकी भागीदारी 'नहीं' के बराबर है। वहीं ऊँची जातियों का कब्जा स्थानीय स्तर पर भी देखने को मिलता है। समाचार माध्यमों में ऊँची जातियों के कब्ज़े से इंकार नहीं किया जा सकता। 'मीडिया स्टडी ग्रुप' के सर्वे ने जो तथ्य सामने लाये, हालाँकि वह राष्ट्रीय पटल के हैं, लेकिन कमोबेश वही हाल स्थानीय समाचार जगत का है, जहाँ दलित-पिछड़े खोजने से मिलेंगे। आजादी के वर्षों बाद भी मीडिया में दलित-पिछड़े हाशिये पर हैं। मीडिया के अलावा कई क्षेत्र हैं, जहाँ अभी भी सामाजिक स्वरूप के तहत प्रतिनिधित्व करते हुए दलित-पिछड़ों को नहीं देखा जा सकता है, ख़ासकर दलित वर्ग को। आँकड़े बताते हैं कि देश की कुल जनसंख्या में मात्र आठ प्रतिशत होने के बावजूद ऊँची जातियों का, मीडिया हाउसों के इकहत्तर प्रतिशत शीर्ष पदों पर कब्ज़ा बना हुआ है। जहाँ तक मीडिया का जातीय व समुदायगत होने का सवाल है, आँकड़े बताते हैं कि कुल उन्चास प्रतिशत ब्राह्मण, चौदह प्रतिशत कायस्थ, वैश्य/जैन व राजपूत सात-सात प्रतिशत, खत्री नौ, गैर द्विज उच्च जाति दो और अन्य पिछड़ी जाति चार प्रतिशत हैं। इसमें दलित कहीं नहीं आते यानी माडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे।

जहाँ तक सरकारी मीडिया का सवाल है, तो इसमें अनुसूचित जाति/अनुसूचित जन जाति के लोग भारतीय सूचना सेवा के तहत विभिन्न सरकारी मीडिया में कार्यरत हैं। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय की वेबसाइट से प्राप्त आँकड़ों के अनुसार, सरकारी मीडिया के ग्रुप 'ए' में उच्चतर वर्ग से लेकर जूनियर वर्ग में लगभग आठ प्रतिशत अनुसूचित जाति के लोग हैं, वहीं ग्रुप 'बी' में लगभग पंद्रह प्रतिशत अनुसूचित जाति के हैं। सरकारी मीडिया में ग्रुप 'ए' और ग्रुप 'बी' की सेवा है, इससे इनकी नियुक्ति रेडियो, दूरदर्शन, पी.आई.बी. सहित अन्य सरकारी मीडिया में की जाती है। अनुसूचित जाति के लोगों को मुख्यधारा में जोड़ने के मद्देनजर केन्द्र सरकार की नीतियों के तहत सरकारी मीडिया में तो दलित आ रहे हैं, लेकिन निजी मीडिया में कोई प्रयास नहीं होने की वजह से दलित नहीं दिखते। मीडिया में जाति हिस्सेदारी के सवाल से बवाल उठना ही था, जो वस्तुस्थिति है वह सामने है। सरकारी मीडिया को छोड़ दें, तो निजी मीडिया में जो भी नियुक्ति होती है, वह इतने ही गुपचुप तरीके से होती है कि मीडिया हाउस के कई लोगों को बाद में पता चलता है कि फलाने ने ज्वाइन किया है। ख़ैर, बात जाति की हो रही है। आँकड़े/सर्वे चौंकाते हैं, मीडिया के जाति प्रेम की पोल खोलते हैं, प्रगतिशील बनने वालों पर सवाल भी दागते हैं। बिहार को ही लें, ''मीडिया में

हिस्सेदारी'' के सवाल पर हाल ही में पत्रकार प्रमोद रंजन ने भी जाति प्रेम की पोल खोली है। हालाँकि राष्ट्रीय सर्वे में अनिल चमड़िया, जितेन्द्र कुमार और योगेन्द्र यादव ने जो खुलासा किया था, उसने देश के क्षेत्रीय मीडिया हाउसों के जाति प्रेम को भी अपने घेरे में लिया था।

बिहार, मीडिया के मामले में काफी संवेदनशील व सचेत माना जाता है, लेकिन यहाँ भी हाल राष्ट्रीय पटल जैसा ही है। 'मीडिया में हिस्सेदारी' में साफ़ कहा गया है कि बिहार की राजधानी पटना में काम कर रहे मीडिया हाउसों में सतासी प्रतिशत सवर्ण जाति के हैं। इसमें ब्राह्मण चौंतीस, राजपूत तेईस, भूमिहार चौदह एवं कायस्थ सोलह प्रतिशत हैं। हिन्दू पिछड़ी-अति पिछड़ी जाति, अशराफ मुसलमान और दलित समाज से आने वाले मात्र तेरह प्रतिशत पत्रकार हैं। इसमें सबसे कम प्रतिशत दलितों का है। लगभग एक प्रतिशत ही दलित पत्रकार बिहार की मीडिया से जुड़े हैं। वह भी कोई ऊँचे पद पर नहीं हैं। महिला सशक्तिकरण के इस युग में दलित महिला पत्रकार को ढूँढ़ना होगा। बिहार के किसी मीडिया हाउस में दलित महिला पत्रकार नहीं के बराबर है। आँकड़े बताते हैं कि दलित महिला पत्रकारों का प्रतिशत शून्य है, जबकि पिछड़े-अति पिछड़े जाति की महिला पत्रकारों का प्रतिशत मात्र एक है। साफ है कि दलित-पिछड़े वर्ग के लोग पत्रकारिता में हाशिये पर हैं।

भारतीय परिदृश्य में अपना जाल फैला चुके सैटेलाइट चैनल यानी ख़बरिया चैनलों की स्थिति भी कमोवेश एक ही जैसी है। यहाँ भी कब्ज़ा सवर्ण हिन्दू वर्ग का ही है। नब्बे प्रतिशत पदों पर सवर्ण काबिज़ हैं। हालाँकि हिन्दू पिछड़ी जाति के सात प्रतिशत, अशराफ मुसलमान तीन एवं महिलाएं दस प्रतिशत हैं। यहाँ भी दलित ढूँढते रह जाओगे...।

मीडिया में दलितों की 'नहीं' के बराबर हिस्सेदारी भारतीय सामाजिक व्यवस्था की पोल खोलने के लिए काफी है। सर्वे या फिर सामाजिक दृष्टिकोण के मद्देनज़र देखा जाए, तो आज़ादी के बाद भी दलितों के सामाजिक हालात में कोई क्रांतिकारी बदलाव नज़र नहीं आता। बस कहने के लिए राजनीतिक स्तर पर उन्हें मुख्यधारा में लाने के हथकंडे सामने आते हैं, जो हक़ीक़त में कुछ और ही बयां करते हैं। तभी तो जब देश में अन्य पिछड़ी जातियों के लिए सत्ताइस प्रतिशत आरक्षण को लेकर विरोध और समर्थन चल रहा था, तभी पांडिचेरी के प्रकाशन संस्थान 'नवयान पब्लिशिंग' ने अपनी वेबसाइट पर दिये गये विज्ञापन में 'बुक एडिटर' पद के लिए स्नातकोत्तर छात्रों से आवेदन माँगा और शर्त रख दी कि 'सिर्फ दलित ही आवेदन करें।' इस तरह के विज्ञापन ने मीडिया में खलबली मचा दी। आलोचनाएं होने लगीं। मीडिया के ठेकेदारों ने इसे संविधान के अंतर्गत जोड़ कर देखा। यह सही है या गलत, इस पर राष्ट्रीय बहस की ज़मीन तलाशी गयी। दिल्ली के एक समाचार पत्र ने इस पर स्टोरी छापी और इसके सही-गलत को लेकर जानकारों से सवाल दागे। प्रतिक्रियास्वरूप संविधान के जानकारों

ने इसे असंवैधानिक नहीं माना। वहीं, सवाल यह उठता है कि अगर 'नवयान पब्लिशिंग' ने खुलेआम विज्ञापन निकाल कर अपनी मंशा जाहिर कर दी, तो उस पर आपत्ति कैसी? वहीं गुपचुप ढंग से मीडिया हाउसों में ऊँची जाति के लोगों की नियुक्ति हो जाती है, तो कोई समाचार पत्र उस पर बवाल नहीं करता है और न ही सवाल उठाते हुए स्टोरी छापता है? कुछ वर्ष पहले बिहार की राजधानी पटना से प्रकाशित एक राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक ने जब अपने कुछ पत्रकारों को निकाला था, तब एक पत्रिका ने अख़बार के जाति प्रेम को उजागर किया था। पत्रिका ने साफ़-साफ़ लिखा था कि निकाले गये पत्रकारों में सबसे ज्यादा पिछड़ी जाति के पत्रकारों का होना अख़बार का जाति प्रेम दर्शाता है। जबकि निकाले गये सभी पत्रकार किसी मायने में रखे गये सवर्ण जाति के पत्रकारों से काबिलियत के मामले में कम नहीं थे।

ज़रूरी काबिलियत के बावजूद मीडिया में अभी तक सामाजिक स्वरूप के मद्देनज़र दलित-पिछड़े वर्ग का प्रवेश नहीं हुआ है। कहा जाता है कि किसने आपको मीडिया में आने से रोका? तो हमें इसके लिए कई पहलुओं को खंगालना होगा। सबसे पहले मीडिया में होने वाली नियुक्ति पर जाना होगा। मीडिया में होने वाली नियुक्ति पर सवाल उठाते हुए चर्चित मीडियाकर्मी राजकिशोर का मानना है कि दुनिया भर को उपदेश देने वाले टी.वी. चैनलों में, जो रक्तबीज की तरह पैदा हो रहे हैं, नियुक्ति की कोई विवेकसंगत या पारदर्शी प्रणाली नहीं है। सभी जगह सोर्स चल रहा है। वे मानते हैं कि मीडिया जगत में दस से पचास हजार रुपये महीने तक की नियुक्तियाँ इतनी गोपनीयता के साथ की जाती हैं कि उनके बारे में तभी पता चलता है, जब वे हो जाती हैं। इन नियुक्तियों में ज्यादातर उच्च जाति के ही लोग आते हैं। इसकी ख़ास वजह यह है कि मीडिया, चाहे वह प्रिन्ट (अंग्रेजी-हिन्दी) हो या इलेक्ट्रॉनिक, फैसले लेने वाले सभी जगहों पर उच्च वर्ण की हिस्सेदारी इकहत्तर प्रतिशत है, जबकि उनकी कुल आबादी, मात्र आठ प्रतिशत ही है। उनके फ़ैसले पर सवाल उठे या न उठे इस सच को नजरअंदाज़ नहीं किया जा सकता है।

वहीं दूसरे पहलू के तहत जातिगत आधार सामने आता है और प्रख्यात पत्रकार अनिल चमड़िया 'कास्ट कंसीडरेशन' को सबसे बड़ा कारण मानते हैं। श्री चमड़िया ने अपने सर्वे का हवाला देते हुए बताया है कि मीडिया में फैसले लेने वालों में दलित और आदिवासी एक भी नहीं है। जहाँ तक सरकारी मीडिया का सवाल है, वहाँ एकाध दलित-पिछड़े नज़र आ जाते हैं। श्री चमड़िया कहते हैं कि देश की कुल जनसंख्या में मात्र आठ प्रतिशत ऊँची जाति की हिस्सेदारी है और मीडिया हाउसों में फैसले लेने वाले इकहत्तर प्रतिशत शीर्ष पदों पर उनका कब्ज़ा बना हुआ है। यह बात स्थापित हो चुकी है और कई लोगों ने अपने निजी अनुभवों के आधार पर माना है कि कैसे 'कास्ट कंसीडरेशन' होता है। यही वजह है कि दलितों को मीडिया में जगह नहीं मिली। जो भी दलित आये, वे आरक्षण के कारण ही सरकारी मीडिया में आये। रेडियो-टेलीविजन

में दलित दिख जाते हैं। दूसरी जगहों पर, ढूँढ़ते रह जाओगे। जहाँ तक मीडिया में दलितों के आने का सवाल है, तो उनको आने का मौक़ा ही नहीं दिया जाता है। श्री चमड़िया का मानना है कि मामला अवसर का है। हमलोगों का निजी अनुभव यह रहा है कि किसी दलित को अवसर देते हैं, तो वह बेहतर कर सकता है। यह हमलोगों ने कई प्रोफ़ेशन में देख लिया है। दलित डॉक्टर, इंजीनियर, डिजाइनर आदि को अवसर मिला, तो उन्होंने बेहतर काम किया। दिल्ली यूनिवर्सिटी में बेहतर अंग्रेज़ी पढ़ाने वाले लेक्चररों में दलितों की संख्या बहुत अच्छी है, यह वहाँ के छात्र कहते हैं। बात अवसर की है और दलितों को पत्रकारिता में अवसर नहीं मिलता है। पत्रकारिता में अवसर कठिन हो गया है। उसको अब केवल डिग्री नहीं चाहिये। उसे एक तरह की सूरत, पहनावा, बोली चाहिये। मीडिया प्रोफेशन में जाने के लिए कोई दलित लड़का पढ़कर सर्टिफिकेट ले भी ले और वह काबिल हो भी जाए, तकनीक भी उसको आ जाए, तो भी उसकी जाति डेसिमिनेशन का कारण बन जाती है। पत्रकारिता में दलितों की हिस्सेदारी या फिर उनके प्रति सार्थक सोच को सही दिशा नहीं दी गयी। तभी तो हिन्दू पत्रकारिता का भी आरोप लगता रहा है। 'हंस' के संपादक और चर्चित कथाकार-आलोचक राजेन्द्र यादव ने एक पत्रिका को दिये गए साक्षात्कार में माना था कि हिन्दी पत्रकारिता पूर्वाग्रही और पक्षपाती पत्रकारिता रही है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे वरिष्ठ पत्रकार ने भी अपनी पत्रकारिता के दौरान वर्ण व्यवस्था के प्रश्न पर कभी कोई बात नहीं की। इसका कारण बताते हुए श्री यादव कहते हैं कि ये पत्रकार जातिभेद से दुष्प्रभावित भारतीय जीवन की वेदना कितनी असह्य है, इसकी कल्पना नहीं कर पाये। सच भी है, इसका जीवंत उदाहरण आरक्षण के समय दिखा। मंडल मुद्दे पर मीडिया का एक पक्ष सामने आया। वह भी आरक्षण के सवाल पर बँटा दिखा।

दूसरी ओर महादलित आयोग, बिहार के सदस्य और लेखक बबन रावत, मीडिया में दलितों के नहीं होने की सबसे बड़ी वजह देश में व्याप्त जाति व वर्ण व्यवस्था को मानते हैं। श्री रावत कहते हैं कि हमारे यहाँ की व्यवस्था जाति और वर्ण पर आधारित है, जो एक पिरामिड की तरह है, जहाँ ब्राह्मण सबसे ऊपर और चण्डाल सबसे नीचे है और यही मीडिया के साथ भी लागू है। जो भी दलित मीडिया में आते हैं, पहले वे अपनी जाति छुपाने की कोशिश करते हैं, लेकिन ज्यों ही उनकी जाति के बारे में पता चलता है, उनके साथ दोयम दर्ज़े का व्यवहार शुरू हो जाता है। वह दलित कितना भी पढ़ा लिखा हो, उसके मेरिट को नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में दलित पत्रकार हाशिये पर चला जाता है।

वहीं वरिष्ठ पत्रकार अभय कुमार दूबे मीडिया में दलितों की भागीदारी के सवाल पर एक पत्रिका को दिये गये साक्षात्कार में मानते हैं कि पत्रकारिता के लिए लिखाई-पढ़ाई चाहिए और ऐसी लिखाई-पढ़ाई चाहिए, जो सरकारी नौकरी के उद्देश्य से प्रेरित न हो। पत्रकारिता तो सोशल इंजीनियरिंग का क्षेत्र है। दलितों में सामाजिक-ऐतिहासिक

यथार्थ यह है कि उनमें शिक्षा का अभाव है। दूसरे, आजकल उनकी शिक्षा आरक्षण के जरिये सरकारी नौकरी प्राप्त करने की ओर निर्देशित होती है। इससे पत्रकारिता में उनका प्रवेश नहीं हो पाता। दलित और पिछड़े वर्ग के डी.एम., एस.पी., बी.डी.ओ. और थानेदार बनने के लिए अपने समाज को प्रेरित करते हैं, पर पत्रकार बनने के लिए नहीं। जहाँ तक प्रतिभा का सवाल है, वह सभी में समान होती है और दलित समाज एक के बाद एक प्रतिभा पेश करेगा, तो उसे पत्रकार बनने के अवसरों से वंचित रखना असम्भव हो जाएगा।

मीडिया पर काबिज सवर्ण व्यवस्था में केवल दलित ही नहीं पिछड़ों के साथ भी दोयम दर्ज़े का व्यवहार किया जाता है। चाहे वो कितना भी काबिल या मीडिया का जानकार हो? ज्यादा दूर जाने की जरूरत नहीं है। इन दिनों दिल्ली में एक बड़े मीडिया हाउस में कार्यरत पिछड़ी जाति के पत्रकार को उस वक़्त ताना दिया गया, जब वे पटना में कार्यरत थे। उनका उपनाम के साथ जाति सूचक था। मंडल के दौरान उनके सवर्ण कलिगों का व्यवहार एकदम बदल-सा गया था, जबकि उस हाउस में गिने-चुने ही पिछड़ी जाति के पत्रकार थे। यही नहीं मीडिया में उस समय कार्यरत पत्रकारों के बारे में जब सवर्ण पत्रकारों को पता चलता, तो वे छींटाकशी से नहीं चूकते थे। यह भेदभाव का रवैया सरकारी मीडिया में दलित-पिछड़े पत्रकारों के साथ अप्रत्यक्ष रूप से दिखता है। जातिगत लॉबी यहाँ भी सक्रिय है, लेकिन सरकारी नियमों के तहत प्रत्यक्ष रूप से सामने नहीं आती। केवल तरीका बदल जाता है और आरक्षण से आने का ताना सुनने को मिलता ही है। सरकारी मीडिया में भले ही दलित-पिछड़े आ गये हों, लेकिन वहाँ भी कमोबेश निजी मीडिया वाली ही स्थिति है। अभी भी सरकारी मीडिया में उच्च पदों पर ख़ासकर फैसले वाले पदों पर दलित-पिछड़ों की संख्या उच्च जाति/वर्ण से बहुत कम है।

जो भी हो, समाज में व्याप्त वर्ण/जाति व्यवस्था की जड़ें इतनी मज़बूत है कि इसे उखाड़ फेंकने के लिए एक मज़बूत आंदोलन की जरूरत है, जिसके लिए मीडिया को आगे आना होगा और जब तक यह नहीं होता, दलितों को मीडिया में जगह मिलनी मुश्किल होती रहेगी। भारतीय मीडिया में दलित हिस्सेदारी की पोल वर्ष 2006 में किये गये राष्ट्रीय मीडिया के सर्वे से खुल चुकी है। एक भी दलित मीडिया के शिखर पद पर नहीं मिला, जो फैसले लेने वाले पद पर बैठा हो! राष्ट्रीय मीडिया का सर्वे पर नज़र डालने से स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

राष्ट्रीय मीडिया का सर्वे : 2006

राष्ट्रीय मीडिया के प्रमुख पदों को लेकर वर्ष 2006 में मीडिया स्टडीज ग्रुप (दिल्ली) के अनिल चमड़िया (स्वतंत्र पत्रकार), जितेन्द्र कुमार (स्वतंत्र शोधकर्त्ता) और सामाजिक विकास अध्ययन केन्द्र (सीएसडीएस) के सीनियर फेलो योगेंद्र यादव द्वारा

एक सर्वे किया गया था। सर्वे में राष्ट्रीय मीडिया में समाचारों से सम्बन्धित फैसले लेने वाले प्रमुख पदों पर स्थापित पत्रकारों की सामाजिक पृष्ठभूमि इस प्रकार पायी गयी थी।

–हिन्दू उच्च जाति के पुरुषों का राष्ट्रीय मीडिया पर वर्चस्व है, भारत की कुल आबादी में इनकी हिस्सेदारी आठ प्रतिशत है, लेकिन मीडिया संस्थानों में फैसला लेने वाले पदों का इकहत्तर प्रतिशत उनके हिस्से में आता है।

–राष्ट्रीय मीडिया में सत्रह प्रतिशत प्रमुख पदों पर महिलाएं हैं, महिलाओं की अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति (बत्तीस प्रतिशत) अंग्रेजी इलेक्ट्रानिक मीडिया में है।

–विभिन्न जातियों के प्रतिनिधित्व में असामनता है, द्विज हिन्दुओं (द्विजों में ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत, वैश्य और खत्री को शामिल किया गया था) की जनसंख्या

	हिन्दू	**मुसलमान**	**ईसाई**	**सिख**
भारत की आबादी में हिस्सेदारी	81%	13%	2%	2%
प्रिंट (हिन्दी)	97%	2%	2%	0%
प्रिंट (अंग्रेजी)	90%	3%	4%	0%
इलेक्ट्रानिक हिन्दी	90%	6%	1%	0%
इलेक्ट्रानिक अंग्रेजी	85%	0%	13%	2%
कुल	90%	3%	4%	1%

भारत में सोलह प्रतिशत है, लेकिन मीडिया के प्रमुख पदों पर उनकी हिस्सेदारी छियासी प्रतिशत है, केवल ब्राह्मण (इसके अंतर्गत भूमिहार और त्यागी भी शामिल किये गये थे) के हिस्से में उन्चास प्रतिशत प्रमुख पद हैं।

–दलित और आदिवासी फैसला लेने वाले पदों पर नहीं हैं, राष्ट्रीय मीडिया के तीन सौ पन्द्रह प्रमुख पदों पर एक भी दलित और आदिवासी नहीं हैं।

–राष्ट्रीय मीडिया के प्रमुख पदों पर अन्य पिछड़े वर्ग की हिस्सेदारी चार प्रतिशत है, जबकि भारत में इनकी आबादी तैंतालिस प्रतिशत है।

–मुसलमान महज तीन प्रतिशत पदों पर हैं, जबकि देश की कुल जनसंख्या में इनका हिस्सा तेरह दशमलव चार प्रतिशत है।

–ईसाईयों का औसत प्रतिनिधित्व है, लेकिन मुख्यतः अंग्रेजी मीडिया में राष्ट्रीय मीडिया में चार फीसदी पद उनके हिस्से में है, जबकि भारत की आबादी में उनका हिस्सा दो प्रतिशत है।

	ब्राह्मण	कायस्थ	वैश्य/ जैन	राजपूत	खत्री	गैर द्विज उच्च जाति	ओ. बी. सी.
प्रिंट हिन्दी	59%	9%	11%	8%	5%	0%	8%
प्रिंट अंग्रजी	44%	18%	5%	1%	17%	5%	1%
इलेक्ट्रानिक हिन्दी	49%	13%	8%	14%	4%	0%	4%
इलेक्ट्रानिक अंग्रेजी	52%	13%	2%	4%	4%	4%	4%
कुल	49%	14%	7%	7%	9%	2%	4%

	पुरुष	महिला
प्रिंट हिन्दी	86%	14%
प्रिंट अंग्रेजी	84%	16%
इलेक्ट्रानिक हिन्दी	89%	11%
इलेक्ट्रानिक अंग्रेजी	68%	32%
कुल	83%	17%

–राष्ट्रीय मीडिया में महिलाओं की भागीदारी सत्रह प्रतिशत है, अंग्रेजी मीडिया में अपेक्षाकृत महिलाओं की भागीदारी ठीक है, जबकि अंग्रेजी इलेक्ट्रानिक मीडिया में इनकी भागीदारी संतोषजनक है। इनमें भी दलित महिला पत्रकार नहीं है। (**बयान, अप्रैल 08 और कई पत्र-पत्रिकाओं व भड़ास फॉर मीडिया सहित कई वेब पत्रिकाओं ने प्रकाशित किया।**)

संदर्भः

1. ''राष्ट्रीय मीडिया पर ऊँची जातियों का कब्जा'' मीडिया स्टडीज ग्रुप (दिल्ली) के अनिल चमड़िया (स्वतंत्र पत्रकार), जितेन्द्र कुमार (स्वतंत्र शोधकर्त्ता) और सामाजिक विकास अध्ययन केन्द्र (सीएसडीएस) के सीनियर फेलो योगेंद्र यादव द्वारा एक सर्वे किया गया था। सर्वे कथादेश सहित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था।

2. पुस्तिका 'मीडिया में हिस्सेदारी'- प्रमोद रंजन

3. युद्धरत आम आदमी का दलित अंक

4. सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय की वेबसाइट

मीडिया में दलित आ भी गये तो क्या करेंगे

मीडिया में दलितों की भागीदारी और उनके सरोकरों की क्या स्थिति है सब जानते हैं। किस तरह उन्हें आने नहीं दिया जाता या उनके लिए दरवाज़े बंद कर दिये जाते हैं। 'फारवर्ड प्रेस' के मई,13 के अंक में 'जातीय पैकेजिंग के टी.वी. चैनल' में वरिष्ठ पत्रकार अनिल चमड़िया ने दलितों के मीडिया में आने और उनके प्रवेश पर अघोषित रोक पर लिखा है कि, 'हर साल एक अच्छी-खासी संख्या में पिछड़े, दलित, आदिवासी लड़के-लड़कियाँ भारतीय जनसंचार संस्थान से डिग्री लेकर निकलते हैं। आई.आई.एम.सी. (भारतीय जनसंचार संस्थान) में प्रवेश लेने के लिए इस वर्ग के लड़के-लड़कियाँ परीक्षा देते हैं, फिर कई परीक्षाएं पास करने के बाद वे डिग्री लेते हैं, लेकिन उसके बाद मीडिया संस्थानों में फिर उनकी योग्यता की परीक्षा शुरू होती है। वह मीडिया संस्थान चाहे सरकारी हों या पूँजीपतियों के, हर जगह इस वर्ग के युवा अयोग्य करार दिये जाते हैं। दरअसल, समाजिक प्रतिनिधित्व की अपनी एक सीमा है और उस पर पूरा समाज आश्रित नहीं हो सकता।' इस सवाल के साथ कई और सवाल उठते रहते हैं। आख़िर क्या वजह है, मीडिया में दलितों के साथ दलित समस्याएं भी अनुपस्थित हैं? अगर मीडिया में दलित आ भी जाएं, तो करेंगे क्या? दलित मीडिया में आना नहीं चाहते? दलितों का हो अपना मीडिया यानी 'वैकल्पिक मीडिया' बने? मुख्य धारा की मीडिया को जनतांत्रिक कैसे बनाया जाये? सहित कई सवाल, लखनऊ में 31 मार्च, 2013 को 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' पुस्तक लोकार्पण व परिसंवाद में भी उठे। देश के जाने-माने चिंतकों-आलोचकों-पत्रकारों ने चर्चा कर

सवाल उठाये और जवाब भी ढूँढ़ने की कोशिश की। आइये चर्चा पर डालते है एक नज़र।

मीडिया में दलित और उनके सरोकार ढूँढ़ने पड़ते हैं, फिर भी दोनों नहीं मिलते हैं। मिलते भी हैं, तो नगण्यता की तरह। आलोचक वीरेंद्र यादव ने 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' को लेकर कई सवाल उठाये। भारतीय मीडिया के चरित्र को पर्दाफ़ाश करते हुए कहा कि कैसा है हमारा मीडिया? इस मीडिया में मुकम्मल भारत की तस्वीर नहीं है, गाँव नहीं हैं, हाशिये का समाज नहीं है। मीडिया में दलितों के साथ दलित समस्याएं भी अनुपस्थित हैं। आज समाज को समग्र नज़रिये से देखने की जरूरत है। दलितों की उपस्थिति के साथ, दलित समाज की आलोचना की जरूरत के लिए भी मीडिया में दलितों की आवश्यकता है। राजनीतिक स्वतंत्रता तो मिली, पर सामाजिक जनतंत्र? एक बड़ी चुनौती हमारे सामने है। वह है सामाजिक जनतांत्रिकीकरण का। इसके लिए भारत में सामाजिक जनतंत्र स्थापित करना ही होगा। इसके बिना जनतंत्र का क्या अर्थ?

मीडिया में दलित का मुद्दा इन सारे प्रश्नों से जुड़ा हुआ है। यह महज आरक्षण का या प्रतिनिधित्व का सवाल नहीं है या जनतंत्र को लेकर मीडिया का यह मुद्दा पहली बार नहीं उठा है। संजय कुमार की इस किताब में रॉबिन जाफ़री का ज़िक्र आया है। वे 'वाशिंगटन पोस्ट' के नई दिल्ली में संवाददाता रहे थे और अपनी एक स्टोरी के सिलसिले में वे चाहते थे कि किसी दलित पत्रकार से बात करें। इस सम्बन्ध में उन्होंने पी.आई.बी. से सम्पर्क किया और दलित पत्रकारों का विवरण माँगा, लेकिन एक भी दलित पत्रकार पी.आई.बी. की लिस्ट में उन्हें नहीं मिला। सैकड़ों मान्यता प्राप्त पत्रकार पी.आई.बी. की लिस्ट में हैं, लेकिन देश के एक भी दलित पत्रकार का नाम सूची में नहीं मिलना, चौंकाने वाली बात थी। उन्होंने इस पर 'वाशिंगटन पोस्ट' में एक लेख लिखा और अपने दिल्ली के पत्रकार मित्र बी. एन. उनियाल से बात की। उनियाल ने 'दि पॉयनियर' में एक ख़बरनुमा स्टोरी लिखकर इस समूचे प्रकरण का ज़िक्र किया। इसके बाद योगेन्द्र यादव ने अपनी सी.एस.डी.एस. की टीम के सर्वेक्षण द्वारा इस बात का खुलासा किया कि देश की राजधानी दिल्ली में जो प्रिंट और मीडिया हाउस हैं, वहाँ निर्णय लेने वाले पदों पर नब्बे प्रतिशत द्विज समाज के लोग काबिज हैं। बाकी दस प्रतिशत में दूसरे लोग हैं और किसी भी निर्णायक पद पर दलित या शूद्र नहीं हैं। इस तथ्य के खुलासा होने से इस पर लंबी बहस शुरू हो गयी, उस वक़्त दैनिक 'हिन्दुस्तान' की संपादक मृणाल पाण्डेय ने सर्वे पर जाति तलाशने का आरोप मढ़ते हुए एक लेख लिखा, 'जाति न पूछो साधो की...।'

मीडिया में दलित उपस्थित नहीं हैं और जब मीडिया में गैर द्विजों की उपस्थिति या दलितों की उपस्थिति का सवाल उठाया गया, तो मीडिया के वर्चस्वशाली लोगों द्वारा उसका एक प्रतिकार और प्रतिरोध किया गया। यह तर्क भी दिया गया कि मीडिया

मालिकों का किसी तरह का निर्देश नहीं है कि हम दलितों या निम्न वर्गों से आये लोगों की नियुक्ति न करें। अगर योग्य नहीं मिलते हैं, तो हम क्या करें? लेकिन एक उदाहरण मौजूद है सिद्धार्थ वर्द्धराजन का, जो 'हिन्दू' के संपादक रहे। वे जब रिपोर्टिंग करते थे, तब चेन्नई की एक घटना का हवाला दिया। जिससे इस बात का अंदाज़ा लगता है कि दलितों की समस्याओं को लेकर अख़बारों में कितनी शोचनीय स्थिति है। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा कि एक मेडिकल कॉलेज के दलित छात्रों ने भेदभाव का आरोप लगाते हुए आंदोलन किया और हड़ताल पर चले गये। इसकी ख़बर एक भी समाचार पत्र में नहीं छपी। दलित छात्रों का प्रतिनिधि अख़बारों में गया और उन्हें बताया भी, फिर भी ख़बर नहीं आयी। वे सिद्धार्थ वर्द्धराजन से मिले, अपनी बातें बतायी। वर्द्धराजन ने शहर के संस्करण प्रभारी से ख़बर छापने को लेकर चर्चा की। प्रभारी ने रिपोर्टर भेजने की बात कही, लेकिन रिपोर्टर को नहीं भेजा गया। कई दिन बीत गये लेकिन ख़बर नहीं आयी। तब उन्होंने ने अपने सीनियर से रिपोर्टर भेजकर समाचार कवरेज के लिए कहा, इसके बावजूद भी कुछ नहीं हुआ। स्वयं सिद्धार्थ वर्द्धराजन मेडिकल कॉलेज गये और दलित छात्रों के साथ भेदभाव पर पूरी रिपोर्ट तैयार की और छपने के लिए अख़बार को दे दिया। वह स्टोरी एक हफ़्ते तक नहीं छपी। जब स्टोरी नहीं छपी, तो उन्होंने संपादक से कहा। कई दिनों के बाद जब दलित छात्रों का आंदोलन समाप्त हो गया, तो वह स्टोरी छपी। सिद्धार्थ वर्द्धराजन ने इस तथ्य की ओर इशारा किया कि स्थिति यह है कि अख़बारों में दलित की उपस्थिति तो है ही नहीं और दलितों की अनुपस्थिति के साथ-साथ दलित समस्याएं भी इस तरह से अनुपस्थित हैं।

तमिलनाडु के ही एक अंग्रेज़ी अख़बार में जब एक दलित साक्षात्कार देने गया, तो उससे सवाल, समाज-देश-पत्रकारिता के बारे में न पूछकर यह पूछा गया कि आप किस इलाक़े से आते हैं? जब उस दलित उम्मीदवार ने अपने निवास के इलाक़े का नाम बताया, तो कहा गया, वहाँ तो अमुक जाति के लोग हैं, तो क्या तुम उस जाति के हो! जब दलित उम्मीदवार ने कहा, नहीं, तो वे जान गये कि ये दलित है। सामने वाला किस जाति-समाज का है? कहा जा सकता है कि यह एक प्रभुत्वशाली प्रवृत्ति व मनोदशा है। यानी जो माइन्डसेट है, माहौल है, वह दलित विरोधी है, जो अपने आप एक दर्द है। 1975 के आसपास अमेरिका की पत्रकारिता में ब्लैक की स्थिति बहुत कम थी। इसे लेकर कुछ लोग आगे आये। मीडिया में अश्वेतों की कम उपस्थिति पर चर्चा की गयी। संपादकों की बैठकें हुईं। एक आयोग गठित किया गया और तीन साल में उनके अनुपात को बढ़ाना तय किया गया। इसके लिए उन्होंने एक प्रक्रिया अपनायी। कुछ लोगों को विधिवत प्रशिक्षित किये जाने का फ़ैसला हुआ और फिर एक जर्नलिस्ट टैलेंट सर्च हुआ, यानी मीडिया में ब्लैक के प्रतिनिधित्व के लिए कार्यक्रम बना और नतीज़ा यह हुआ कि आज कई अख़बारों के प्रभारी ब्लैक हैं, लेकिन भारतीय समाज

में यह आज भी दिवास्वप्न सरीखा है ।

भारतीय मीडिया में दलित है ही नहीं, तो करेंगे क्या? जब सिद्धार्थ वर्द्धराजन दलितों की समस्याओं के लिए स्टोरी करते हैं और छपती नहीं है, तो एकाध दलित को नौकरी मिल भी जाए, तो इस तरह का जो मीडिया का व्यवहार है, उसका क्या करेंगे? सवाल है, मीडिया में व्यवस्थागत परिवर्तन का। वैकल्पिक मीडिया की बात होती रहती है, होती रहनी चाहिए और चलती रहनी चाहिए, लेकिन जो मुख्यधारा का मीडिया है, उसे हम जनतांत्रिक कैसे बनायें, यह एक बड़ा सवाल है। इस मुख्यधारा के मीडिया में दलित समाज के लोगों की कैसे सम्मानजनक व प्रभावकारी उपस्थति दर्ज़ हो, यह भी एक बड़ा सवाल है। ग्राउंड लेबल पर यह स्थिति बनी हुई है कि दलित और आदिवासी हाशिये के समाज के लोग हैं। हाशिये के समाज के लोग इन माध्यमों में आते हैं, तो उनके साथ भेदभाव किया जाता है। और सबसे बड़ा सवाल यही है कि आ भी जाएंगे, तो करेंगे क्या?

हाल ही में एक पुस्तक आयी है 'अनटचेबिलिटी इन रूरल इंडिया' जो भारत के ग्यारह राज्यों के सर्वे पर आधारित है। सर्वे में कहा गया है कि भारतीय समाज में किस-किस तरह से दलितों के साथ आज भी भेदभाव किया जाता है। सर्वे बताता है कि आज भी भारत के अस्सी प्रतिशत गाँवों में किसी-न-किसी रूप में दलितों के साथ अछूत-सा व्यवहार किया जाता है। पंचायत में नीचे बैठने को कहा जाता है। मीड-डे मील को लेकर भेदभाव किया जाता है। चार में से एक गाँव आज भी ऐसे हैं, जिनमें नये कपड़े, छाता लेकर चलने और चश्मा लगाने, जूता पहनकर चलने पर दलितों को रोक है। शहर के दलितों के साथ शायद ऐसा नहीं हो! लेकिन आज भी यह हो रहा है। भारतीय समाज में ख़ासकर दक्षिण भारत में कई ऐसी जगहें हैं, जहाँ पर ढाबों में दलितों के लिए अलग से बर्तन रखे जाते हैं। यह कहा जाता है कि आज ग्लोबलाइजेशन हुआ है, मार्केट तंत्र आया है, इससे कुछ सामाजिक समानता आयी है। लेकिन ज़मीनी सच यह है कि आज भी गाँव के बाज़ार में जब दलित जाता है, तो उसके साथ उसकी जातिगत पहचान बनी रहती है। दूसरे लोगों की तरह वह सामानों को अपने हाथ में उठा-उठा कर, देखकर खरीद नहीं सकता, उसे दूर से ही दुकानदार को बताना होता है। सर्वे आधारित ये जो तथ्य सामने आ रहे हैं, वे आज के ग्रामीण भारत के रोज़मर्रा के जीवन का हिस्सा हैं। यह सच हमारे अख़बारों में नहीं छपता। हिन्दी अख़बारों में तो बिल्कुल नहीं। हिन्दी अख़बारों में दलित तब उपस्थित होता है, जब कोई बस्ती या गाँव जला दिया जाता है। आज सांप्रदायिकता को तो बड़े ख़तरे के रूप में पहचाना गया, लेकिन उससे भी बड़ा ख़तरा है दलितों के साथ भेदभाव। यह भारतीय समाज का सच है। अंधेरे भारत का सच है, जो हमारे भारतीय मीडिया में अनुपस्थित है।

दलित की उपस्थिति होगी, तो कुछ संवेदनशीलता आएगी। कल्पना कीजिए कि

'न्यूज रूम' में दस में से नौ द्विज समाज के लोग हैं। अगर दस में से नौ दलित और शूद्र समाज के लोग हों, तो दलितों के मुद्दे सामने आएंगे। यह मात्र दलित उपस्थिति का मुद्दा नहीं है, बल्कि भारतीय समाज के जनतांत्रीकरण और समाजीकरण का भी मुद्दा है।

परिसंवाद में बहस को आगे बढ़ाते हुए चर्चित दलित चिंतक अरूण खोटे ने दलितों को मीडिया का जनक बताया। इतिहास का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि दलितों की कई उपजातियाँ, भांट/ढोलकची आदि ही सूचनाओं का प्रचार-प्रसार करते थे। इसके बावजूद शिक्षा और संसाधनों से वंचित यह वर्ग अब मीडिया से गायब हो गया है। बात सिर्फ़ मीडिया में दलितों के प्रतिनिधित्व की नहीं है, बल्कि दलितों के मुद्दों के लिए भी है। आज मीडिया में दलित नदारत है, सवाल यह है कि मीडिया में दलितों को ढूँढ़ भी लिया जाये, तो क्या करेंगे। क्योंकि मैंने ढूँढ़े हैं। मिले भी हैं। 80 के दशक को देखें, तो उस वक़्त का मीडिया सामाजिक सारोकारों का भारतीय मीडिया था, उसमें समाज रहता था। 90 के दशक तक वह बहुत व्यवसायी हो जाता है। दो हजार तक में आते-आते और व्यावसायिक हो जाता है और आज जब हम 2013 में यह बात करते हैं, तो वह बाज़ार हो जाता है। सामाजिक सरोकार और व्यावसायिक सरोकार में मीडिया की बात करते हैं, तब समरसता, दर्शन, पाठक और मीडिया दिखता है। आज जो रिश्ता है, वह उपभोक्ता और बाज़ार का है। ऐसी स्थिति में हम क्या बात करें? आज हम यहाँ बैठे हैं, तो लगभग देश के सभी प्रमुख न्यूज चैनलों में सिर्फ़ एक समाचार चैनल है, जो इस बीच बता रहा है कि हरियाणा के रोहतक में दो दलितों की बर्बरता से हत्या कर दी गयी। सिर्फ़ एक चैनल इसे दिखाता है। डी.एन.ए. अख़बार में होली के दूसरे दिन एक ख़बर छपती है, होली की पूजा करने गये दलितों पर हमला किया गया।

श्री खोटे ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा कि अमेरिका में अश्वेत लोगों को मीडिया में शामिल करने की बात हुई और उसे लेकर व्यापक चर्चा हुई। सवाल यह है कि हिन्दुस्तान का मीडिया होता, तो क्या वह पहल करता? सवाल यह भी है कि फ़ैसले ले भी लें, तो क्या होगा? अगर दलित को कोई बड़ा अख़बार नौकरी दे भी दे, तो वहाँ जाकर, वह करेगा क्या? मीडिया में सिर्फ़ प्रतिनिधित्व से क्या होगा? सवाल यह है कि मीडिया में दलितों के मुद्दों के लिए जगह है? दुर्भाग्य की बात यह है कि मीडिया में जो भी दलित हैं, वे अपनी पहचान छुपाते हैं। अगर वे पहचान सामने रखते हैं, तो वे मीडिया में ज्यादा दिन टिक नहीं पाते हैं। देखा जाये तो यह एक गम्भीर मुद्दा है, दलितों के मुद्दों के प्रति, पैंसठ साल में एक योगेन्द्र यादव की 2006 में सर्वे आती है और आज यह किताब आयी है। पैंसठ साल में मात्र दो अध्ययन, अभी तक यह नहीं तय हो पाया है कि कम से कम ये भी अध्ययन होने चाहिए कि आख़िर मीडिया में दलितों की जगह भी है? मैं जानता हूँ, आप लोग भी जानते हैं कि लखनऊ के बड़े अख़बार

ने कई मेधावी पत्रकारों ख़ासकर आई.आई.एम.सी. से निकले पत्रकारों को मौक़ा दिया। लेकिन मैंने अब तक दस साल में नहीं देखा कि उन्होंने दलित मुद्दों को मौक़ा दिया हो। आज के संदर्भ में मीडिया को देखें, तो वह पूरा बाज़ार हो चुका है। बड़ी संभावनाएं हैं और इसमें एक बड़ी संभावना की भी ज़रूरत है। दुर्भाग्य की बात यह है कि इस संभावना के दरवाज़े में ज्यादा कीलें ठुकती जा रही हैं और यही कारण है कि वह पल सामने नहीं आ रहा है, जिसकी हमें जरूरत है। यदि बाज़ार है, तो ख़रीदार होंगे। जेब में पैसा है, तो खरीद सकते हैं। लखनऊ के अन्दर यह तय किया जाये, कितने दलित अख़बार खरीदते हैं। एक अख़बार को लिया जाये और तय कर लिया जाये, कितने प्रतिशत दलित अख़बार खरीदते हैं, तब उन्हें बाध्य किया जा सकता है, कम-से-कम इतना स्पेस हमारा होना ही चाहिए।

लगभग चार साल पहले एक अध्ययन आया था, हिन्दुस्तान के अमीर लोगों को लगा कि सबसे ज्यादा टैक्स हम देते हैं। एक अध्ययन आया योजना आयोग का, उसमें था कि सबसे ज्यादा टैक्स अदा करने वालों में बी.पी.एल. वाले हैं, जो माचिस की टिकिया से लेकर चावल-दाल खरीदने पर टैक्स देते हैं। आज स्थिति यह है कि अख़बार में जो ख़बर छपती है, उसकी कीमत तय होती है, जो विज्ञापन के स्तर पर तय होती है। ख़बर तभी छपती है, जब तक उसकी कीमत अख़बार को मिल नहीं जाती है। मतबल, बाज़ार के हिसाब से ख़बरों को छापा और बेचा जाता है।

वैकल्पिक मीडिया पर सवाल उठाते हुए अरूण खोटे ने कहा कि इसका हम करेंगे क्या? अरविंद केजरीवाल आज हड़ताल पर हैं, तो अख़बार में उनकी छोटी-सी ख़बर पाँचवे-छठे पेज पर छप रही है। यही केजरीवाल जब अन्ना के साथ आंदोलन कर रहे थे, तब पहले पेज पर छपते थे। टी.आर.पी. और प्रसार संख्या से चीज़ें तय होती हैं। बाज़ार तय कर रहा है कि क्या छपेगा, क्या नहीं। देश में आज भी एक सौ चालीस तरह की छुआछूत की प्रथाएं चल रही हैं। शहर में लगभग पैंतीस प्रतिशत यह कायम है। मीडिया में पत्रकार बनने वालों पर चर्चा करते हुए कहते हैं कि अस्सी के दशक तक जो लोग पत्रकार बनने की प्रक्रिया में थे, वे मीडिया में प्रवेश किये और नब्बे तथा दो हजार के दशक में कौन लोग पत्रकारिता में आ रहे हैं? पत्रकार बनने की जो पुरानी शैली थी, जिससे हम लोग भी निकलकर आये हैं, कहीं-न-कहीं सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन से निकलकर आये या जो लोग राजनीतिक-सामाजिक आंदोलन के हिस्सेदार थे या वे लोग जो संवदेनशील थे, जिन्हें अपनी बात रखने की जरूरत महसूस हुई। लोगों के बीच अपनी बात रखने की जरूरत हुई, उन लोगों ने लिखना शुरू किया। यह जो सामाजिक सरोकार की बात थी, लेकिन जब मीडिया व्यावसायिकता के दौर में पहुँचा, तब मीडिया व्यावसायिक होने लगा, डिग्री और डिप्लोमा की बात आने लगी, आज कितने पत्रकारों से उम्मीद करते हैं कि वह सामाजिक संवेदना का साथ दे। वे भागते जाते हैं, अपनी गाड़ी ठीक से स्टैंड पर लगाते

भी नहीं हैं। कार्यक्रम के शुरू होने के पहले ही प्रेस रिलीज माँग लेते हैं। ऐसे लोगों से हम कैसे उम्मीद करेंगे कि वे सामाजिक सरोकार के साथ न्याय करें और पूरे देश के साथ खड़े हो जायें। स्थिति ख़तरनाक भी है, लेकिन संभावना भी है। एक बात आज स्पष्ट है कि आप संपादक-पत्रकार की जितनी भी आलोचना कर लें, लेकिन कई संदर्भों में यह बेकार क़िस्म का मामला बनता है, क्योंकि आज कमर्शियल विभाग तय करता है कि अख़बार में कितना और क्या छपना चाहिए। अगर कमर्शियल विभाग तय कर रहा है कि क्या होगा, तो ऐसे में हमें आज की मीडिया को नये संदर्भों में समझने की जरूरत है। तमाम तरह की पत्रिकाएं निकल रही हैं। महाराष्ट्र में एक सफल दलित अख़बार 'महानायक' आज भी निकल रहा है। अनेक प्रयासों को देखने की आवश्यकता है। दलित संदर्भों से तमाम पत्रिकाएं साथी निकाल रहे हैं, लेकिन कहीं-न-कहीं संसाधनों के अभाव में या अन्य कारणों से लोगों तक नहीं पहुँच पा रहा है, इसलिए जब वैकल्पिक मीडिया की बात आती है, तब हमें लगता है कि मुख्य धारा का विकल्प कैसे बना जाये? उनके सरोकार अलग हैं, मेरे सरोकार अलग हैं। मैं उनका विकल्प कैसे बन जाऊँ? यह ज़रूर हो सकता है कि जिस वर्ग को हम संबोधित करना चाहते हैं, उस वर्ग को बाज़ार के रूप में मुख्यधारा से जोड़ दें और इसमें बहुत जरूरी होता है कि हमें वैकल्पिक मीडिया से एक क़दम आगे समानांतर मीडिया को खड़ा करना। इन सभी चीज़ों को बेहतर ढंग से देखने की जरूरत है। मीडिया के ऊपर एक गंभीर बहस की जरूरत है। आज की तारीख़ में हालत यह है कि सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्त्ता अख़बार के दफ़्तर में रिलीज़ छोड़ते हैं, लेकिन अख़बार के अंदर के मैकेनिज्म को नहीं जानते हैं। ख़बर छपी तो क्यों, नहीं छपी तो क्यों और जो दिया था वह क्यों नहीं छपा, जैसा हमने कहा था, वैसा क्यों नहीं छपा? अगर जवाबदेही तय किया जाये, तो वह कौन तय करेगा, यह एक महत्वपूर्ण सवाल है और ख़तरा भी। यह ख़तरा जनतंत्र के लिए नहीं बल्कि मीडिया के लिए है, जो मीडिया के लिए भी आत्मघाती है। अगर मीडिया के साथी सही समय पर नहीं सोचते, तो शायद आने वाला दौर मीडिया को बद-से-बदतर स्थिति में ले जाएगा, क्योंकि बाज़ार हावी हो चुका है और आपका मन-मस्तिष्क पूरी तरह गुलामी की स्थिति में है।

वहीं दलित चिंतक एस.आर. दारापुरी ने कहा कि दलितों के साथ अब भी भेदभाव बरकरार है, लेकिन यह सब मीडिया में ख़बर नहीं बनता है, क्योंकि मीडिया भी उसी द्विज वर्चस्व को बरकरार रखना चाहता है। उन्होंने कहा कि मीडिया में दलित नहीं हैं, यह सच्चाई है। तो सवाल यह है कि हम क्या करें? ऐसे में दलित मीडिया को आगे लाने की जरुरत है। जहाँ तक मीडिया में दलित का सवाल है, तो मीडिया में दलित नहीं है। इस पर रॉबिन जी की पुस्तक पढ़ी है, उस पर एक पूरा चैप्टर मीडिया में दलित क्यों नहीं है, के ऊपर काफी विस्तार से लिखा गया है। सच है कि मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खम्भा कहा जाता है, उसमें दलित नदारत है, अदृश्य है, उनका प्रतिनिधित्व

नहीं है, उनकी अपेक्षाएं, दुःख-दर्द मीडिया में नहीं आते हैं। मीडिया द्विजों के हाथ में है, वे जैसा चाहते हैं, लोगों को परोसते हैं और हमलोग उसे पढ़ने के लिए बाध्य हैं, क्योंकि हमारे सामने दूसरा पक्ष देखने-सुनने को मिलता ही नहीं। आज़ादी के पहले के मीडिया को देखें, तो पाते हैं कि थोड़ी जगह दलितों के लिए थी, लेकिन आज़ादी के बाद दलित एक प्रतिद्वंदी के रूप में खड़े होने लग गये, तो उन्हें मीडिया से अदृश्य करने की कोशिश होने लगी है। सच्चाई यह है कि मीडिया में दलित नहीं हैं, इसके ऐतिहासिक कारण हैं। वर्तमान में स्पष्ट कारण है, मीडिया जिनके हाथ में रहा है, वे किसी भी कीमत पर दलितों को मीडिया में जगह देने के लिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि मीडिया का अपना वर्ग चरित्र होता है, वह अपने वर्ग हित को स्वीकार कराना चाहता है, बढ़ाना चाहता है। मीडिया के अंदर कुछ भूले-भटके आ भी गये, तो दिखावे के लिए, तो उनको जो काम दिया जाना चाहिए, वह नहीं दिया जाता है। दलितों की जो ख़बरें छपती हैं, जब तक बलात्कार नहीं हो जाता, आगजनी नहीं हो जाती, तब तक मीडिया में ख़बर नहीं बनती है। हर रोज़ दलितों के साथ भेदभाव हो रहा है, उत्पीड़न हो रहा है, वह ख़बर नहीं बनती। बुंदेलखंड में आज भी दलित जाति के लोग जूते पहन कर ब्राह्मणों के घर के आगे से नहीं निकल सकते। सार्वजनिक कुएं से पानी नहीं भर सकते। सरकारी हैंडपाइप से पानी नहीं ले सकते। ये सब मीडिया में ख़बर नहीं बनती और न ही ख़बर बनेगी, क्योंकि मीडिया पर द्विज व्यवस्था को सरकार भी बरकरार रखना चाहती है। इसकी उपज मीडिया है। दलितों के साथ मीडिया का सरोकार है, क्योंकि इसमें भी कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता, क्योंकि जाति भेद मज़बूती से खड़ा है। गाँव में चले जायें, वहाँ साफ़ दिखेगा। शहरों में छुपे रूप में दिखेगा। सवाल यह है कि दलित मीडिया में नहीं हैं, तो क्या किया जाना चाहिए। एक बात तो यह है कि जो जगह वैकल्पिक मीडिया की है, वह निर्धारित किया जाना चाहिए। बड़े-बड़े निजी अस्पताल-स्कूल आदि बनते हैं, तब सबको अनुदानित दर पर ज़मीन दी जाती है और शर्तें होती हैं कि अस्पताल बनता है, तो उसमें बी.पी.एल. परिवारों के लिए चिकित्सा व्यवस्था मुफ़्त दी जाये। इसी तरह से मीडिया को प्रिंट पेपर और विज्ञापन सरकार देती है। इन सबको देखा जाये, तो सरकार के समक्ष इसे रखा जाये कि ये हमारी ख़बर नहीं छापते हैं। आप इनको विज्ञापन आदि की सुविधा देना बंद कर दीजिए। दलितों को इस पर सोचना पड़ेगा कि कैसे मीडिया को मज़बूर करें कि हम भी देश में हैं, हम भी टैक्स देते हैं। हम यह भी कर सकते हैं, जो अख़बार हमारी ख़बरें नहीं छापते हैं, तो उनका बहिष्कार करें। एक सर्वे होना चाहिए कि कौन पेपर दलित विरोधी है, फिर उसका खुलेआम बहिष्कार कर देना चाहिए। वैकल्पिक मीडिया का सवाल है, तो इस पर ईमानदारी से विचार करना चाहिए। हमारा मीडिया कैसे आये, इस पर चिंतन की जरूरत है। यह जरूरी नहीं कि दूसरे लोग हमारी बात पढ़ें। हम करोड़ों में हैं, क्या उत्तर प्रदेश में एक पत्रिका नहीं चल सकती है, एक अख़बार नहीं चल

सकता? मीडिया में दलित क्यों नहीं हैं, इसके बाहरी और अंदरूनी कारणों को हमें ईमानदारी से ढूँढ़ने की ज़रूरत है।

बहस को आगे बढ़ाते हुए प्रगतिशील महिला एसोसिएशन, लखनऊ की राष्ट्रीय उपाध्यक्ष ताहिरा हसन कहती हैं कि हमें लड़ाई लड़नी होगी और यह लड़ाई दलित के साथ मिलकर लड़नी होगी। सवाल खड़ा करना होगा। दलितों के प्रति जो व्यवहार हो रहा है, उसे लेकर विरोध के स्वर उठने चाहिए। मुसलमानों के प्रति, अल्पसंख्यकों के प्रति, जो भी कुछ हो रहा है इसके खिलाफ हम कैसे लड़ेंगे– यह हमें तय करना होगा और यह सवाल भी हमें अपने आप से करना होगा कि यह जो मीडिया में सवाल खड़ा हो रहा है, क्या उनके नेतृत्व में हम उनकी तरह वोकल होकर लड़ सकेंगे? हमें यह भी सवाल खड़ा करना है और दलितों को मीडिया में आने के लिए लामबंद तरीके से पहल शुरू करनी चाहिए। हमें मिलकर लड़ना होगा, एक वैकल्पिक मीडिया भी होनी चाहिए, लेकिन यह नेशनल मीडिया कौन हो, यह भी सवाल खड़ा करने की जरूरत है।

जन संस्कृति मंच, लखनऊ के संयोजक कौशल किशोर कहते हैं कि मीडिया के चरित्र के सवाल पर, दलित आंदोलन के सवाल पर विचार करना चाहिए, ये सवाल सिर्फ़ दलितों के लिए नहीं है। हमारे समाज में कई सवाल हैं– शोषित-उत्पीड़ित जनता के सवाल हैं और मूलतः मीडिया के जो सवाल हैं, वे अंततः इस व्यवस्था से कहीं बड़े सवाल हैं। जब तक किसी समाज का लोकतांत्रिकरण नहीं होगा, तब तक इस तरह के सवालों के हल नहीं मिलेंगे। श्री किशोर ने कहा कि कहने को तो लोकतांत्रिक व्यवस्था है, लेकिन सामाजिक बराबरी आज भी दुर्लभ है। कहने को तो मीडिया को लोकतंत्र का प्रहरी, चौथा खंभा, मज़बूत स्तंभ का ढाँचा कहा जाता है, परन्तु इसकी बनावट जातिवादी तथा दलित विरोधी है। निचले तबके, पिछड़े दलितों को आगे कैसे लाया जाए, आज मीडिया की आंतरिक संरचना कैसी है? आज मीडिया का वास्तविक चरित्र देखा है। हिन्दी मीडिया को मनुवादी, हिन्दू मीडिया बनते देखा है। दलित मीडिया से जुड़ना तो चाहते हैं, लेकिन उन्हें जान-बूझकर इससे दूर रखा जाता है। यदि कोई प्रतिभाशाली और योग्य दलित मीडिया में प्रवेश भी पा लेता है, तो उसे शीर्ष तक पहुँचने नहीं दिया जाता, बल्कि उसे बाहर का रास्ता दिखाने के लगातार उपाय ढूँढ़े जाते हैं। उन्होंने एक समानांतर मीडिया लाने के लिए मुहिम चलाने की ज़रूरत पर भी बल दिया, जो जनता के प्रतिरोध के स्वर के साथ सक्रिय हो सके।

मीडिया में दलित, दलितों का मीडिया

मीडिया में दलित हिस्सेदारी लगभग लगभग शून्य है। जो हैं भी, तो अपनी पहचान छुपाने की कोशिश करते हैं, उन्हें डर होता है कि द्विज बाहुल्य भारतीय मीडिया को पता चलेगा, तो उसे मीडिया हाउस से हटा दिया जाएगा। कई वाकये हैं। उदाहरण हैं कि दलितों के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार होता है। मीडिया में दलितों के लिए कोई स्पेस नहीं है। यह स्पेस ख़बर और न्यूज़ रूम में बराबरी के हिस्से को लेकर है। मीडिया में दलित और दलितों का मीडिया को लेकर चर्चाओं का सिलसिला जारी है। मीडिया में दलितों के सरोकारों को स्पेस और न्यूज़ रूम में दलितों के हिस्से को लेकर है। पिछले दिनों 16 दिसम्बर, 2013 को मीडिया में दलित और दलितों का मीडिया विषय पर डा.आम्बेडकर महासभा लखनऊ ने एक सेमिनार का आयोजन किया गया।

मीडिया के बदलते चरित्र की ओर इशारा करते हुए दैनिक 'हिन्दुस्तान' के वरिष्ठ संपादक नवीन जोशी ने कहा कि मीडिया में न तो दलित हैं और न ही उनकी ख़बर बन पाती है। मीडिया संस्थानों से निकले दलित छात्रों को मीडिया में नौकरी नहीं मिलती। मीडिया का चरित्र पूरी तरह से पूँजीपरस्त हो गया है। श्री जोशी ने कहा कि देखना आवश्यक है कि मीडिया है किसका, क्योंकि इसका चरित्र पूरी तरह बदल गया है और मुनाफ़ा कमाना मीडिया का एकमात्र उद्देश्य रह गया है। अख़बार में किन मुद्दों को आना चाहिए, इनकी कोई नीति नहीं है। मीडिया में दलित पत्रकारों को भारी संख्या में नौकरी दे भी दी जाये, तो क्या मक़सद पूरा हो पाएगा। क्या दलितों की ख़बर के लिए जगह बन पाएगी या नहीं, क्योंकि मीडिया के जो प्रमुख हैं, उन्हें समाज की चिन्ता नहीं है। उनका अर्थशास्त्र केवल मुनाफे का है। मीडिया में दलित, महिलाएं, मुसलमान,

किसान और उनकी समस्याएं नहीं हैं। जो भी मीडिया को चला रहा है, उन्हें दलित मुद्दों से कोई सरोकार नहीं रह गया है। यह भीड़ तंत्र का मीडिया है। हक़ीक़त यह है कि अन्ना के मुद्दों से भी मीडिया को कोई सहानुभूति नहीं है, उसे केवल भीड़ से मतलब है। वे अन्ना के साथ तब तक हैं, जब तक अन्ना के साथ भीड़ है। जब भीड़ गायब होती है, तो मीडिया भी गायब हो जाता है। राज्यसभा टी.वी. के सम्पादक उर्मिलेश ने कहा कि भारत का मीडिया दुनिया का सबसे बड़ा मीडिया है। यहाँ मीडिया का व्यवसाय साठ हजार सात सौ करोड़ का है। इसके चौरासी हजार अख़बार तथा तीन सौ से ज्यादा चैनल हैं। इससे एक सौ आठ बड़ी उद्योग कम्पनियाँ जुड़ी हुई हैं। श्री उर्मिलेश ने कहा कि आज़ादी के इतने सालों बाद भी भारतीय मीडिया उद्योग ने दलितों के लिए अफरमेटिव एक्शन नहीं लिया, इसलिए इस मुद्दे पर मीडिया उद्योग पूरी तरह असफल रहा है, इसलिए इंडियन स्टेट को दलितों के लिए अफरमेटिव एक्शन इन्ट्रोडयूज़ करना चाहिए और स्टेट द्वारा अब तक ऐसा नहीं किया गया, इसलिए इसे स्टेट का भी फेल्योर माना जाएगा। उन्होंने कहा कि इतने बड़े मीडिया उद्योग से दलित गायब हैं, इसके लिए उन्होंने पूरी तरह राज्य को ज़िम्मेदार माना। उन्होंने कहा कि यदि दुकानों के लिए कानून बन सकता है, पेड़ों के लिए कानून बन सकता है, तो मीडिया के लिए कानून क्यों नहीं बन सकता। उन्होंने आरोप लगाया कि मीडिया में उच्च जातियों का वर्चस्व है। उन्होंने कहा कि एडिटर्स गिल्ड को दलित भागीदारी के बारे में सोचना पड़ेगा। यदि दलित एक अच्छे प्रशासक हो सकते हैं, तो अच्छे पत्रकार क्यों नहीं हो सकते? उन्होंने कम्युनिस्ट आंदोलन को भी आड़े हाथों लेते हुए कहा कि डॉ. आम्बेडकर से मतभेद को यदि कम्युनिस्ट आंदोलन ने हल कर लिया होता, तो आज मीडिया सहित समाज का स्वरूप बदल गया होता। उन्होंने कहा कि वैकल्पिक मीडिया दलितों के लिए कारगर हथियार नहीं हो सकता, दलितों को मुख्यधारा की पत्रकारिता में आना होगा।

उर्मिलेश का कहना था कि भारत के मीडिया में सवर्ण वर्चस्व है। कोई पत्रकार दलित है, तो वह मीडिया में अपने दम पर है। भारत के प्रख्यात संपादक सवर्ण समाज से रहे हैं, उन्होंने अमेरिका की तरह दलितों की भागीदारी के बारे में कभी नहीं सोचा। उन्होंने एक महत्वपूर्ण सवाल यह भी उठाया कि दलित व पिछड़े वर्गों की राजनीति करने वाले लोग मीडिया में दलित के सवालों को क्यों नहीं उठा रहे हैं। कला, संगीत पर क्या केवल कुछ लोगों का कब्ज़ा हो सकता है? उत्पादन के साधन पर जिनका कब्ज़ा है, उनका संस्कृति पर कब्ज़ा है। उन्होंने कहा कि दो हजार छह में किये सर्वेक्षण के अनुसार मीडिया में सतासी प्रतिशत पत्रकार एक ही वर्ग के हैं, जो मीडिया में विविधता के लिए भारी चुनौती है।

वरिष्ठ आलोचक वीरेन्द्र यादव ने कहा कि पत्रकारिता के स्वरूप को बदलना होगा, जिससे दलितों की मीडिया में भागीदारी हो, लेकिन इस बात का भी ध्यान रखना होगा

कि दलित मुद्दे अनुपस्थित न हों। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा समाप्त होने से इसका सबसे ज्यादा नुकसान दलितों को हो रहा है। राजनीतिक इच्छा शक्ति से ही दलितों को मीडिया में आने का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि सेमिनार का जो विषय है, वह सरल नहीं है। यह मुद्दा सामाजिक के साथ ही राजनीतिक भी है। मीडिया से न सिर्फ़ दलित ही अनुपस्थित हैं, बल्कि व्यापक समाज अनुपस्थित है। मीडिया पर कॉरपोरेट हावी हो गया है। नयी आर्थिक नीतियों ने एक बड़ी संख्या में लोगों को बाज़ार से बाहर कर दिया है। दलितों की समस्याएं मीडिया में आनी चाहिए, लेकिन वह सिर्फ़ समस्याओं के रूप में नहीं, बल्कि एक संघर्ष के रूप में भी सामने आयें।

'नवभारत टाइम्स' के संपादक सुधीर मिश्र ने आह्वान किया कि दलित पत्रकारिता से जुड़ें। उन्होंने कहा कि वे दलित पत्रकारों को प्रशिक्षण देकर उन्हें मुख्यधारा में लाना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि आत्मविश्वास और कड़े परिश्रम से सब कुछ हासिल किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि साइकिल पर लॉटरी बेचने के साथ उनकी यात्रा शुरू हुई थी और परिश्रम के कारण उन्हें यह मुकाम हासिल हुआ। दलितों को भी अपनी प्रतिभा दिखानी पड़ेगी।

'जनसत्ता' से जुड़े वरिष्ठ पत्रकार अम्बरीश कुमार ने कहा कि मंडल आंदोलन के दौरान उन्हें बड़े कटु अनुभव हुए। उन्होंने कहा कि एक बार जब उन्होंने आरक्षण आंदोलन के समर्थन में ख़बर बनायी, तो उसे पेस्ट करने वाले कर्मचारी ने हटा दिया, क्योंकि वह ब्राह्मण था और आरक्षण के विरोध में था। उन्होंने बताया कि उन दिनों बड़ी जातियों के बीच अख़बार बँटा था। श्री अम्बरीश ने स्पष्ट रूप से कहा कि मीडिया में नब्बे प्रतिशत अगड़ी जातियों के लोग हैं और वहाँ दलित नहीं हैं, जिसके लिए संपादकगण पूरी तरह ज़िम्मेदार हैं। इस बिन्दु पर संपादकों में बहस चलनी चाहिए। वरिष्ठ पत्रकार संतोष बाल्मिकी ने कहा कि मीडिया से दलित गायब हैं, आदिवासी गायब हैं। वह केवल तब ख़बर बनता है, जब नक्सलवादी हिंसा होती है और जब उनकी सामूहिक हत्याएं होती हैं। आगजनी होती है। उन्होंने कहा कि माँ के साथ सीवर और सड़क साफ़ करते हुए उन्होंने जे.एन.यू. से पत्रकारिता की और एक लंबे समय से पत्रकार हैं, किन्तु दलित होने के नाते आज तक संपादक नहीं बन पाये। उन्होंने कहा कि वे तो दलित समाज के अंतिम पायदान से आते हैं, जहाँ पर वे दलितों में भी दलित हैं। इसके पूर्व आधार पत्र प्रस्तुत करते हुए कार्यक्रम के आयोजक और डॉ. आम्बेडकर महासभा के अध्यक्ष डा. लालजी प्रसाद निर्मल ने कहा कि सी.एन.एन.आई.बी.एन. के वरिष्ठ संपादक सागरिका घोष के अनुसार उन्नीस सौ छियानवे में जब बी.एन. उनियाल ने राष्ट्रीय अख़बारों का एक सर्वेक्षण किया, तो उन्होंने पाया कि छह सौ छियासी मान्यता प्राप्त वरिष्ठ पत्रकारों के बीच चार सौ चौवन ऊँची जाति के लोग थे शेष दो सौ बत्तीस ने अपनी जाति का उल्लेख नहीं किया था,

किन्तु उनमें एक भी दलित नहीं था। वर्ष दो हजार छह के एक सर्वेक्षण में पाया गया कि सैंतीस हिन्दी और अंग्रेज़ी अख़बारों और टी.वी. स्टेशनों में तीन सौ पत्रकारों में, अन्य पिछड़े वर्गों में, शीर्ष मीडिया नौकरियों में मात्र चार प्रतिशत भागीदारी थी। दलितों का प्रतिशत शून्य था। छब्बीस-सत्ताइस नवम्बर दो हजार दस को पेरियार विश्वविद्यालय, तमिलनाडु में आयोजित 'नैतिक मुद्दों और भारतीय मीडिया' पर एक राष्ट्रीय सेमिनार में भाग लेते हुए बाल सुब्रह्मण्यम, जो पत्रकारिता और विज्ञान संचार, मदुरै, कामरान विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष हैं, ने अपने एक इंटरव्यू का उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि जब वे पत्रकारिता से स्नातकोत्तर का कोर्स करने के बाद नौकरी की तलाश में निकले, उनका इरादा चेन्नई तमिल मीडिया में पत्रकार बनना था। आवेदन के बाद इंटरव्यू के लिए एक तमिल दैनिक के द्वारा उन्हें बुलाया गया। साक्षात्कार के बाद प्रथम चरण में उनसे तमिल और अंग्रेजी में खुद के बारे में लिखने को कहा गया। बाल सुब्रह्मण्यम ने अपना लिखा, संपादक को दे दिया। इसके बाद व्यक्तिगत साक्षात्कार में संपादक ने एक मुस्कान के साथ पहला सवाल किया और कहा, बाल सुब्रह्मण्यम आप कहाँ से हैं?

मैं तिरूनेलवली से हूँ।

आप बताएं तिरूनेलवली में बेल्लार जाति बहुसंख्यक है या नहीं?

जी, हाँ, उनमें से ज्यादातर शहर में रहते हैं।

आप बेल्लार जाति से हैं?

जी, नहीं श्रीमान। फिर, मैं अनुसूचित जाति का हूँ।

संपादक- ठीक है।

फिर लंबी खामोशी और कुछ देर बाद बोले- आप जा सकते हैं। आपको बाद में सूचित कर दिया जाएगा और वह सूचना कभी नहीं आयी। बेल्लार जाति वहाँ की श्रेष्ठ जाति है।

दलितों का मीडिया में अनुपस्थिति का सीधा असर यह है कि दलित मुद्दे भी ख़बरों से गायब हैं। दलितों की ख़बर तभी बन पाती है, जब उनकी झोपड़ियाँ फूँकी जाती है या जब उनके साथ बलात्कार जैसी संगीन घटनाएं होती हैं। 'हिन्दू' के संपादक रहे सिद्धार्थ वर्द्धराजन जब रिपोर्टिंग कर रहे थे, तब उन्होंने चेन्नई की एक घटना का ज़िक्र किया। मेडिकल कालेज के दलित छात्रों ने भेदभाव की शिकायत करते हुए आंदोलन शुरू किया और हड़ताल पर चले गये। इसकी ख़बर समाचार पत्रों में नहीं छपी, तो छात्र वर्द्धराजन से मिले और अपनी बात बतायी। उन्होंने शहर के संस्करण प्रभारी को रिपोर्ट के लिए कहा। ख़बर नहीं छपी। उन्होंने सीनियर से वार्ता की, तब भी ख़बर नहीं छपी। वे स्वयं कालेज गये और छात्रों से बात कर रिपोर्ट छपने के लिए अख़बार को भेजी। उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, किन्तु आंदोलन समाप्त होने के बाद। सिद्धार्थ वर्द्धराजन ने फिर लिखा कि अख़बारों में दलितों की अनुपस्थिति के साथ-साथ दलित

समस्याएं भी इस तरह से अनुपस्थित हैं। विगत माह बिहार के लक्ष्मणपुर बाथे के मारे गये अट्ठावन दलितों के दोषियों को निचली अदालत की सुनायी गयी। सज़ा को वहाँ की उच्च न्यायालय ने पूरी तरह समाप्त कर दिया, किन्तु अख़बारों और न्यूज चैनलों में इस पर कोई चर्चा नहीं हुई।

वैकल्पिक मीडिया ने दलितों के बीच स्वाभिमान पैदा करने का कार्य अवश्य किया है, किन्तु सीमित संसाधनों के कारण वह प्रभावी नहीं है। वस्तुतः मुख्य प्रश्न यही है कि मुख्यधारा की मीडिया को जनतांत्रिक कैसे बनाया जाये? मीडिया में दलितों को शामिल किया जाना सिर्फ़ मीडिया भागीदारी का ही प्रश्न नहीं है। यह एक बड़ा मुद्दा है। न्यूज़ रूम में विविधता नहीं होगी, तो मीडिया की राय आंशिक और पक्षपाती होगी। मीडिया में दलितों की भागीदारी के प्रश्न पर कुछ विद्वानों का अभिमत है कि भारतीय तंत्र पत्रकारिता सेवा आयोग गठित करने पर विचार किया जाना चाहिए। वहीं दूसरी ओर कुछ विद्वानों का अभिमत है कि अमेरिका की भाँति कुछ संपादकों को आगे आकर न्यूज़ रूम में विविधता की शुरुआत करते हुए अख़बार की कलम और न्यूज़ चैनल के कैमरे के बटन दलितों के हाथों में देने की शुरुआत करनी चाहिए। इन सवालों के साथ देश के दलित आज यह सवाल उठा रहे हैं कि मीडिया में हम क्यों नहीं, ख़बरों में हम क्यों नहीं?

सेमिनार का संचालक और राष्ट्रीय भागीदारी आंदोलन के संयोजक सुरेश चन्द्र गौतम ने गोष्ठी का सार प्रस्तुत करते हुए कहा कि चूँकि मीडिया पूँजीपरस्त हो गया है और जन सरोकारों से इसका कोई मतलब नहीं रह गया है और मीडिया आज भी जनमत तैयार करने वाला सशक्त हथियार है। अतः कानून बनाकर मीडिया में बहुजनों को भागीदारी दी जानी चाहिए। उपयुक्त होगा कि भारतीय प्रशासनिक सेवा की भाँति भारतीय संचार तंत्र पत्रकार सेवा आयोग का गठन किया जाये। इसके साथ ही एडिटर्स गिल्ड न्यूज रूम में विविधता के लिए अमेरिका की भाँति आगे आये, जिससे न्यूज रूम में विविधता आ सके।

दलित मीडिया एडवोकेसी

मीडिया में दलित भागीदारी और उनके सरोकारों के दरकिनार की गूँज़ अब जोर-शोर से सुनाई पड़ने लगी है। दलित चिंतक इसे लेकर चिंतित हैं। भागीदारी और सरोकारों को मीडिया में जगह मिले, गोलबंदी शुरू हो गयी है। विमर्श का दौर चल पड़ा है और दलित मीडिया की एडवोकेसी जोर पकड़ने लगी है, फिर भी वह तेवर नहीं दिखता। 'पिपुल्स मीडिया एडवोकेसी एंड रिसोर्स सेंटर' (पी.एम.ए.आर.सी) ने इस दिशा में लड़ाई तेज़ कर दी है। इसके संस्थापक दलित चिंतक अरूण खोटे दलित मीडिया की वकालत करते हुए वर्षों से मुहिम चला रहे हैं। न सिर्फ़ दलित संगठनों-आंदोलनों के सामने लगातार सवाल खड़े किये हैं, बल्कि इस दिशा में पहल की अपील की है। उठाये गये सवालों को यहाँ कलमबद्ध किया जा रहा है, ताकि उनके प्रयास से सोये लोग जगे।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि मीडिया में दलितों के मुद्दे नहीं हैं और उनका प्रतिनिधित्व भी नहीं है। मीडिया दलितों के साथ होने वाले अत्याचार-उत्पीड़न को या तो पूरे चटखारेदार बना कर और सनसनी पैदा करके किसी ख़ास राजनीतिक दल के फ़ायदे के लिये उसे उछालता है या फिर महज़ रस्मअदायगी के तहत समाचार पत्र के कोने में कोई जगह दे देता है, समाचार चैनल जब बाध्य हो जाते हैं, तो फटाफट समाचारों में दो-चार बार स्ट्रिप चला देते हैं।

मीडिया सौ प्रतिशत निजी हाथों या कॉरपोरेट जगत की मुट्ठी में है। मीडिया पूर्ण रूप से ब्राह्मणवादी या मनुवादियों की मुट्ठी में है। इस तर्क के साथ दलित संगठन, नेटवर्क और आन्दोलन पूरे मीडिया को खारिज कर देते हैं, क्या यही पूर्ण सच्चाई है?

यह एक बहुत महत्वपूर्ण विषय है। अरूण खोटे जी सवाल उठाते हैं कि क्या दलित संगठनों-आंदोलनों ने अन्य मुद्दों की तरह ही दलितों के मुद्दों के लिये मीडिया में उचित स्थान के मुद्दे को आपने आंदोलनों में महत्व दिया? सवाल यह भी है कि दलित संगठनों-आंदोलनों ने इस मुद्दे को लेकर क्या कभी मीडिया संस्थानों के साथ कोई संवाद किया है?

दलित चिंतक खोटे जी के सवाल, सही मायने में दलित आंदोलन से जुड़े लोगों को घेरने की भी कोशिश है। उन्हें जगाने की कोशिश है। गोलबंद करने की कोशिश है। सच भी है कि दलित आंदोलन के मुखर होने के बावजूद अभी तक अपना मीडिया खड़ा नहीं हो पाया है, जो मनुवादी मीडिया को जवाब दे सके या फिर ऐसे हालात नहीं बना दिये गये, जिससे मनुवादी मीडिया में दलित भागीदारी और उनके सरोकारों को उचित जगह सम्मान के साथ मिलने लगी हो! अरूण खोटे यह भी सवाल उठाते हैं कि क्या कभी दलित संगठनों ने अपने ज़मीनी स्तर पर काम कर रहे कार्यकर्ताओं और नेताओं को मीडिया के ढाँचे, उसके कार्य करने की शैली, समाचारों के चुनने के मापदंड पर कोई प्रशिक्षण दिया है? क्या दलित संगठनों ने कभी पत्रकारों के साथ सामंजस्य बनाने, उन्हें अपने मुद्दे के प्रति संवेदनशील बनाने की दिशा में कोई प्रयास किया है? यकीनन, श्री खोटे के सवाल में दम है। राजनीति में दलित हिस्सेदारी बढ़ी है। सामाजिक स्तर पर दलित संगठन सक्रिय हैं, लेकिन जो सवाल उठा है, उस दिशा में कोई ख़ास पहल उनकी ओर से नहीं दिखती है।

अरूण खोटे जी यह भी सवाल उठाते हैं कि क्या दलित संगठनों ने कभी यह माँग सरकार से या फिर मीडिया संस्थानों से की है कि कम से कम वह अपने संस्थानों में दलित या सामाजिक न्याय के नाम से डेस्क या बीट स्थापित करें, जहाँ से दबे-कुचले वर्गों से जुड़े समाचारों पर निगाह रखी जाये और उन्हें उचित स्थान देने की सुनिश्चित व्यवस्था की जाये। आज स्थिति यह है कि भारतीय जनसंचार संस्थान, जो देश में पत्रकारिता का सबसे बड़ा संस्थान है, वहाँ से प्रति वर्ष एक अच्छी तादाद में दलित और दबे-कुचले वर्ग के छात्र पत्रकार बन कर निकलते हैं, लेकिन मीडिया के ब्राह्मणवादी और मनुवादी संरचना के चलते नब्बे प्रतिशत दलित और दबे-कुचले वर्ग के पत्रकार मीडिया संस्थानों में कोई स्थान नहीं बना पाते हैं, जो येन-केन प्रकारेण जगह पा भी जाते हैं, उन्हें दलितों या दबे कुचले वर्ग के बदले अन्य सामान्य विषयों पर ही काम करने की ज़िम्मेदारी दी जाती है, बल्कि अधिकतर निजी संस्थानों और सरकारी नौकरियों में सूचना अधिकारी की नौकरी में चले जाते हैं। तो क्या यह दलित और दबे-कुचले वर्गों का नुकसान नहीं है? यदि हमारे वर्ग के इन छात्रों को उचित मौक़ा मिलता, तो पत्रकार के रूप में वे अपने समाज के मुद्दों को बेहतर तरीके से उठा सकते थे, मगर ऐसा नहीं हो पा रहा है, यह किसका विषय है?

यह सवाल नहीं, बल्कि सच्चाई है। दलितों के हर पहलू को दरकिनार किया जाता

रहा है और इसके खिलाफ आंदोलन नहीं दिखता। जबकि सत्ता के गलियारे तक दलित संगठनों की पहुँच किसी-न-किसी रूप में है। अरूण खोटे कहते हैं, यदि दलित संगठनों ने इन बिन्दुओं के प्रति लगातार अनदेखी की है, तो फिर मुख्यधारा के मीडिया को पूरा दोष देना उचित नहीं है, उसे लगातार उच्च वर्ग और निजी हाथों में बनाये रखने के कुछ हद तक तो हम भी दोषी हैं।

'दलित मीडिया एडवोकेसी' का उद्देश्य अपना स्वतंत्र समाचार माध्यम खड़ा करना नहीं है, बल्कि मुख्यधारा के मीडिया को सामाजिक सरोकारों की दिशा में ले जाने का प्रयास है। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि अधिकतर राष्ट्रीय और राज्य स्तरीय दलित नेटवर्क, संगठन, एडवोकेसी प्लेटफार्म और आन्दोलनों को अपने काम-काज के लिए संसाधनों हेतु विदेशी दान दाता संस्थानों पर निर्भर रहना पड़ता है, जिनमें से अधिकतर (या लगभग सभी) के पास 'दलित मीडिया एडवोकेसी' के लिए न तो कोई प्रोग्राम है और न ही इच्छाशक्ति! इसका एक पक्ष यह भी है कि इस मुद्दे के लिए दलित संगठनों ने कभी भी किसी ठोस तरीके से विदेशी दानदाता संस्थानों के सामने माँग नहीं रखी। यहाँ तक कि किसी भी सरकार के सामने इस मुद्दे पर भी कोई प्रयास नहीं किया गया है। इसके पीछे सबसे बड़ी गलतफहमी यह है कि 'मीडिया' नाम आते ही सबके सामने पत्र-पत्रिका प्रकाशन या फिर दलित मुद्दों के प्रति समर्पित समाचार चैनल की परिकल्पना से आगे न सोच पाना एक बड़ा गतिरोध है। क्योंकि मीडिया के अंतर्गत आने वाले पत्र-पत्रिका के प्रकाशन और समाचार चैनल के लिए विदेशी संस्थाओं से दान पर पूर्णरूप से प्रतिबंध है, इसलिए विदेशी संस्थानों से सहयोग लेकर तमाम दलित मुद्दों पर काम करने वाले दलित संगठन अपने आप को असहाय महसूस करते हैं और इस दिशा में किसी भी तरह की पहल से बचते हैं। जबकि 'दलित मीडिया एडवोकेसी' का मीडिया के अंतर्गत आने वाले पत्र-पत्रिका के प्रकाशन या समाचार चैनल से दूर-दूर का कोई रिश्ता नहीं है। दुर्भाग्यवश दलित संगठनों ने इस दिशा और इस मुद्दे को अभी समझने की दिशा में किसी स्तर पर कदम नहीं उठाया है।

पी.एम.ए.आर.सी. के अरूण खोटे कहते हैं कि 'दलित मीडिया एडवोकेसी' अन्य दलित मुद्दों की ही तरह एक स्वतंत्र पक्ष है, जिसके लिए एक स्वतंत्र पहल की आवश्यकता है। इसका मूल उद्देश्य है–

–मुख्यधारा के मीडिया को जाति आधारित भेदभाव के प्रति संवेदनशील बनाना।

–मुख्यधारा के मीडिया से जुड़े सभी पक्षों को दलित मुद्दों के प्रति संवेदनशील बनाना।

–मुख्यधारा के मीडिया को दलितों के मुद्दों के विभिन्न पक्षों से अवगत करते हुए उसकी दलित मुद्दों के प्रति स्पष्टता को प्रखर करना।

–मुख्यधारा के मीडिया से सामंजस्य स्थापित करके दलित मुद्दों को उनके माध्यम से मुख्यधारा के समाज से संवाद कायम करना और देश के सामने जातिगत भेदभाव

और सामाजिक विकृति की बहस को केन्द्र में लाना।

—मुख्यधारा के मीडिया के माध्यम से मुख्यधारा के समाज को दलित वर्ग मुद्दों के प्रति संवेदनशील बनाना।

—सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि दलित मुद्दे से जुड़े ज़मीनी आन्दोलन के कार्यकर्ताओं और नेतृत्व को मुख्यधारा के मीडिया के ढाँचे, संरचना, कार्यशैली और समाचारों के लिए उनके मापदंडों के प्रति जागरूक और प्रशिक्षित तथा कुशल करना है।

—दलित मुद्दे से जुड़े ज़मीनी आन्दोलन के कार्यकर्ताओं और नेतृत्व को मुख्यधारा के मीडिया के साथ संवाद स्थापित करने का कौशल प्रदान करना है।

—सोशल मीडिया जैसे नये माध्यमों के इस्तेमाल और उसके विभिन्न पक्षों से अवगत करना है।

वे कहते हैं कि सोचना यह होगा कि आख़िर दलित आन्दोलन, संगठन राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आवाज़ उठाते रहने के बावजूद इस मुद्दे पर चुप क्यों रहते हैं? वे अपील करते हैं... मित्रो! डॉ. आम्बेडकर ने दलित और दबे-कुचले वर्ग के अपने खुद के मीडिया को विकसित किये जाने पर बहुत जोर दिया था, जो आज भी अपूर्ण उद्देश्य है। लेकिन हमें यह स्पष्ट होने चाहिए कि ऐसा कहते समय डॉ. आम्बेडकर बहुत स्पष्ट थे। उनका मानना था कि अपना स्वयं का मीडिया हो। हम सबको अपने ही समाज को जागरूक बनाने और उसे संगठित करने के लिए अति अवश्यक है। दलितों का अपना मीडिया हम सबके और हमारे समाज के बीच एक संवाद और हमारे एकीकरण की प्रक्रिया का माध्यम होगा, जो जातिवाद के खिलाफ और समानता के आंदोलन के लिए हम सबका संवाद माध्यम बनेगा। लेकिन यदि हमें मुख्यधारा के समाज से जाति के मुद्दे या जातिविहीन समाज के लिए संवाद करना होगा, तो उसके लिए मुख्यधारा के मीडिया को ही संवाद का माध्यम बनाना होगा और उसे संवेदनशील बनाना होगा।

'वैकल्पिक मीडिया' को लेकर सवाल उठते रहे हैं, बल्कि व्यक्तिगत स्तर पर इस दिशा में क़दम भी उठे हैं। 'वैकल्पिक मीडिया' के सवाल पर अरूण जी कहते हैं, मुख्यधारा के मीडिया के निराशावादी रुख से हताश दलित वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा निरंतर 'वैकल्पिक मीडिया' की पैरवी करता है। हमें इस बिंदु पर बहुत स्पष्टता की आवश्यकता है, क्योंकि वैकल्पिक मीडिया मूल रूप से मुख्यधारा के मीडिया का विकल्प नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों का उद्देश्य, विषय सामग्री, क्षेत्र और पाठक, दर्शक वर्ग अलग-अलग होते हैं। एक सीमित दायरे के भीतर यह समान भी हो सकता है। वैकल्पिक मीडिया का एक तयशुदा निश्चित दायरा और पाठक, दर्शक वर्ग होता है, जबकि मुख्यधारा के मीडिया का पाठक वर्ग बहुआयामी और अतिव्यापक होता है, जो समाज के बहुत सारे या फिर सारे हिस्से को एक साथ संबोधित, संवाद या सूचित

करता है। मुख्यधारा का मीडिया समाज के अलग-अलग हिस्सों को अलग-अलग तरह से प्रभावित भी करता है। वैकल्पिक मीडिया विभिन्न मुद्दों पर वैचारिक बहस चलाने के लिए मूल रूप से समाज के संवेदनशील और जागरूक हिस्से को प्रभावित करके समाज परिवर्तन का माध्यम है। यह किसी के प्रति आरोप नहीं है, बल्कि वह सवाल है, जिसके जवाब हम सबको सामूहिक रूप से तलाशने होंगे।

'पी.एम.ए.आर.सी.' के संस्थापक दलित चिंतक अरूण खोटे की चिंता कई मायने में वाजिब है, जो सवाल दलित मीडिया, दलित सरोकरों और वैकल्पिक मीडिया सहित अन्य मुद्दों को लेकर यहाँ उन्होंने उठाया है, उस पर विमर्श के साथ-साथ पहल की जरूरत है। (*पिपुल्स मीडिया एडवोकेसी एंड रिसोर्स सेंटर, पी.एम.ए.आर.सी. के संस्थापक दलित चिंतक अरूण खोटे की ओर से उठाये गये सवाल को लेकर तैयार आलेख*)

आलोचना नहीं,
हतोत्साहित करना मक़सद

आलोचना तो आलोचना है, लेकिन आलोचना की भाषा में अपसंस्कृति की बू आ जाये, तो वह विवाद में आ जाता है। ऐसे ही एक आलोचक हैं कंवल भारती, जो अक्सर अपनी आलोचना में ऐसी बातें लिख मारते हैं, जिससे वे विवादों के घेरे में आ जाते हैं या फिर जान-बूझ कर आना चाहते हैं! क्योंकि वे जो टिप्पणी करते हैं उसकी भाषा कहीं से आलोचक की नहीं लगती। वे आलोचना में विषय-वस्तु को खारिज तो करते हैं। साथ ही, लेखक व लेखन को खारिज करने में भी परहेज नहीं करते। आलोचना की भाषा जाहिर करती है कि वे अपने समक्ष किसी को स्वीकार नहीं करना चाहते! ख़ासकर दलित मुद्दे पर। श्री भारती ने फेसबुक पर, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित मेरी पुस्तक 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' की फेसबुकिया समीक्षा की। समीक्षा की भाषा ने सवाल खड़े किये। फेसबुक पर बहस शुरू हुई। मैंने समीक्षा का स्वागत किया, लेकिन उनकी भाषा का प्रतिरोध। मेरे प्रतिरोध पर वे बीच बहस छोड़ निकल लिये, मुझे 'अनफ्रेंड' कर दिया। यही नहीं उनके विचारों से मेल नहीं खाते कमेंट करने वालों को भी अपने फेसबुक खाता से अनफ्रेंड कर जाहिर कर दिया कि उनकी मंशा दलितों के पक्ष में खड़ा होना नहीं, बल्कि द्विजों के साथ गठजोड़ बढ़ाना है। अब ये भला दलित मुद्दों पर बहस क्यों करेंगे?

मेरा प्रतिरोध कंवल भारती की ओर से की गयी आलोचना पर नहीं है, बल्कि उनके दलित विरोधी सोच से है, उनकी अपसंस्कृति से ओत-प्रोत भाषा से है, जो कहीं से एक आलोचक की नहीं होती है। जहाँ तक मेरी पुस्तक 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' का सवाल है, तो इसमें 'मीडिया' में दलितों की हिस्सेदारी और दलित

सरोकारों की अनदेखी को का मुद्दा बनाया गया है। ऐसे में कंवल भारती लिखते हैं कि ''इस किताब को देख कर कहा जा सकता है कि इसमें किसी भी कोण से दलित पत्रकारिता पर गंभीर काम नहीं हुआ है। किसी विषय पर किताब कैसे लिखी जाती है, उसका रत्ती भर शिल्प भी लेखक नहीं जानता है। दरअसल, यह किताब संजय कुमार के लेखों का संग्रह है और ये लेख भी उनकी गंभीर लेखन-प्रतिभा का परिचय नहीं देते हैं।'' एक ओर तथ्यों को वे खारिज करते हैं और पुस्तक को लेखों का संग्रह बताते हुए किताब कैसे लिखी जाती है, शिल्प पर सवाल उठाते हैं। यह अपने आप में विरोधाभास है। उन्होंने अपने कथन में प्रकाशक के ऊपर भी उंगली उठायी है। पुस्तक के प्रकाशक किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। शांति स्वरूप बौद्ध जी केवल प्रकाशक ही नहीं, वे जाने-माने विद्वान हैं। विभिन्न विषयों पर दर्जनों पुस्तकें लिख चुके हैं। कंवल भारती की यह वैचारिक-सामाजिक सोच स्वयं उन्हें कटघरे में खड़ा कर जाता है।

कंवल भारती की फेसबुकिया समीक्षा पर मेरा जवाब 'प्रतिरोध' का है, उस प्रतिरोध का जो दलित विरोधी है। दलित मत को आगे बढ़ाने के बजाय श्री भारती पीछे ले जाना चाहते हैं। वैचारिक द्वंद्व के बीच वे घोषणा करते हैं कि 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' में जो सवाल छूट गये हैं, उसे मैं उठाऊँगा! तो उनके इस जज़्बे को सलाम करता, लेकिन उन्होंने दलित विमर्श को ही पीछे ढकेलने का काम किया है। चर्चा में वे कहते हैं कि 'मीडिया में दलित आना ही नहीं चाहते'। पता नहीं श्री भारती को यह आँकड़ा कहाँ से मिल गया। 'फारवर्ड प्रेस' के मई 13 के अंक में 'जातीय पैकेजिंग के टी.वी. चैनल' में वरिष्ठ पत्रकार अनिल चमड़िया ने दलितों के मीडिया में आने और उनके प्रवेश पर अघोषित रोक पर लिखा है कि ''हर साल एक अच्छी-खासी संख्या में पिछड़े, दलित, आदिवासी लड़के-लड़कियाँ भारतीय जनसंचार संस्थान से डिग्री लेकर निकलते हैं। आई.आई.एम.सी. (भारतीय जनसंचार संस्थान) में प्रवेश लेने के लिए इस वर्ग के लड़के-लड़कियाँ परीक्षा देते हैं, फिर कई परीक्षाएं पास करने के बाद वे डिग्री लेते हैं, लेकिन उसके मीडिया संस्थानों में फिर उनकी योग्यता की परीक्षा शुरू होती है। वह मीडिया संस्थान चाहे सरकारी हों या पूँजीपतियों के। हर जगह इस वर्ग के युवा अयोग्य करार दिये जाते हैं। दरअसल, समाजिक प्रतिनिधित्व की अपनी एक सीमा है और उस पर पूरा समाज आश्रित नहीं हो सकता।''

कंवल भारती के विरोधी तेवर से ऐसा लगता है कि वे दलित विमर्श पर अपना एकाधिकार चाहते हैं, वे जो लिखें, वहीं बेहतर, बाकी बेकार। उनकी समीक्षा का स्वर व्यक्ति विरोध में तब्दील हो जाता है। दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर हों या 'दलित दस्तक' के संपादक अशोक दास या फिर चर्चित लेखक सतनाम सिंह, कोई दलित-ग़ैरदलित चिंतक-लेखक दलित विमर्श की बात करता है, तो कंवल भारती उसके विरोध में खड़े हो जाते हैं। भगवान दास जी की किताब 'धोबी समाज' के बारे में भी श्री भारती ने

30 अप्रैल 13 को अपने फेसबुक वाल पर लिखा और किताब के विरोध में खड़े हुए और जब उन्हें जवाब दिया गया, तो खामोश हो गये। देखिये उन्होंने क्या लिखा-

किताब 'धोबी समाज' के बारे में

कंवल भारती

किसी भी बड़े लेखक की किताब में अगर कोई कुछ अपना जोड़कर किताब में अपना नाम भी लेखक के साथ जोड़ दे, तो भले ही कोई उस पर ध्यान न दे, पर मेरी नज़र में वो साहित्यिक अपराध है। ऐसी ही एक किताब है भगवान दास जी की 'धोबी समाज'। यह एक छोटी-सी पतली किताब थी, जिसे अब सतनाम सिंह ने अपना कुछ जोड़कर एक सौ इक्यावन पृष्ठों की मोटी किताब बना दिया है और अब उस पर लेखक के रूप में भगवान दास और सतनाम सिंह दोनों के नाम छपे हैं। इसे सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली ने प्रकाशित किया है। इस पुस्तक को जो भी पढ़ेगा, उसे यही लगेगा कि इस किताब को भगवान दास और सतनाम सिंह दोनों ने मिलकर लिखा है, जबकि ऐसा नहीं है। इस किताब को पढ़कर किसी भी पाठक या शोध छात्र के लिए यह तय करना सम्भव ही नहीं है कि भगवान दास जी का लिखा हुआ कौन-सा है और सतनाम सिंह का लिखा कौन-सा है? जो लोग भगवान दास जी को मूल रूप में पढ़ना चाहते हैं, उन्हें इस किताब से कोई मदद नहीं मिलेगी। यह किताब भगवान दास जी की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई है, इसलिए उनसे इस सम्बन्ध में पूछताछ भी नहीं की जा सकती। भगवान दास जी के पुत्र राहुल दास का वक्तव्य इस किताब में 'अपनी बात' के रूप में छपा है, जिसमें वह कहते हैं, 'मैं सतनाम सिंह जी का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने दिन-रात खोज करके पिता जी की पुस्तक के नये संस्करण में आभूषण जैसी सूचनाएं जड़ दीं।' यानी पिता की कृति में छेड़छाड़ के इस कर्म में पुत्र भी शामिल है। इसका कारण साहित्य में पुत्र राहुल दास की अरुचि और नासमझी भी हो सकती है, जिससे वह अपने पिता की कृति के महत्व को नहीं समझ सके। अगर भगवान दास जी जीवित होते, तो हरगिज वे सतनाम सिंह को ऐसा करने के लिए कभी अधिकार नहीं देते। मेरी राहुल दास जी से प्रार्थना है कि वह यह जो हुआ सो हुआ, पर आगे भगवान दास जी की कोई अन्य कृति के साथ ऐसा अपराध न कराएं। सतनाम सिंह अपने अपराध का परिमार्जन इस तरह कर सकते हैं कि इसमें छपवाकर जोड़ें कि भगवान दास जी की मूल सामग्री कौन-सी है और उनकी अपनी कौन-सी है? यदि इस संस्करण में यह सम्भव न हो, तो अगले संस्करण में यह काम वह जरूर करें। मुझे इस किताब में 'दो शब्द' लिखने वाले डा. विवेक कुमार से भी शिकायत है कि इस समस्या पर उनका ध्यान क्यों नहीं गया?

कंवल भारती के लिखे पर सतनाम सिंह ने जवाब दिया, जिसे कपिल स्वरूप बौद्ध ने श्री भारती के वाल पर पोस्ट किया-

कंवल भारती जी को 'धोबी समाज' पुस्तक के बारे में गलतफ़हमी है। यह पुस्तक

भगवान दास और मेरे नाम सहित दास जी के जीते जी ही संवर्द्धित हो गयी थी, जिसे कंवल भारती जी उनके परिनिर्वाण के बाद छपी बता रहे हैं। सम्यक प्रकाशन में जब उन्होंने अपनी मात्र आठ-दस पृष्ठों की 'धोबी समाज' पुस्तिका भेजी थी, तो मैंने स्वयं उनसे कहा था कि अब तो धोबी समाज पर बहुत-सी सामग्री उपलब्ध है। उन्होंने ही मुझसे वह सामग्री अपनी पुस्तिका में जोड़ने का आग्रह किया था। मैंने कठोर परिश्रम करते हुए उसमें वह सामग्री जोड़ी। पुस्तिका आठ-दस पृष्ठों से एक सौ बावन पृष्ठों की बन गयी। यह परिश्रम मैंने को-राइटर के रूप में अपना नाम छपवाने के लालच में नहीं किया था। भगवान दास जी ने उसमें से कुछ सामग्री हटा दी, कुछ नयी जोड़ दी। साथ-ही-साथ सम्पादन भी कर दिया। जब उन्होंने फ़ाइनल प्रूफ छपने के लिए भेजा, तो को-राइटर के रूप में उन्होंने अपने नाम के नीचे मेरा नाम स्वयं ही लिख भेजा। पाण्डुलिपि के साथ ही उन्होंने कवरिंग लेटर भी लिखा था, उसमें भी उन्होंने भूरी-भूरी प्रशंसा करते हुए मेरा नाम अपने नाम के साथ को-राइटर के रूप में लिखने के लिए लिखा। यह बात मैंने पुस्तक में प्रकाशित अपनी भूमिका में भी लिख दी है, जिसे कंवल भारती जी अनदेखा कर गये हैं। वह पाण्डुलिपि प्रमाणस्वरूप आज भी सम्यक प्रकाशन के कार्यालय में मौजूद है। कंवल भारती जी उसे जाँचने के लिए सम्यक प्रकाशन के कार्यालय में सादर आमंत्रित हैं। इस पूरी कवायद के गवाह स्वयं भगवान दास जी के बेटे डॉ. राहुल दास जी हैं। मुझे लगता है कि यदि कंवल भारती जी को इस बात की जानकारी होती और यह भी पता होता कि यह पुस्तक भगवान दास जी के जीते जी ही संवर्द्धित हो गयी थी, तो फिर वे ऐसी टिप्पणी ही न करते। पुस्तक के बैक कवर पर लेखक परिचय में भगवान दास जी की मृत्यु का इसीलिए ज़िक्र नहीं है कि टाइटल उनके जीते जी ही छपा। वैसे कंवल भारती जी को टिप्पणी करने से पहले सम्यक प्रकाशन से, मुझसे और डॉ. राहुल दास जी से पहले पूछताछ कर लेनी चाहिए थी। भगवान दास जी से मेरा भावनात्मक रिश्ता था। मैंने तो एक वयोवृद्ध मिशनरी की सहायता भर की थी, कृपया इसे साहित्यिक अपराध न कहा जाए। अपराध तब माना जाता, जब यह काम उनकी बिना सहमति से किया जाता। पुस्तक में डॉ. राहुल दास जी ने जो वक्तव्य दिया है, वह एकदम सटीक है, क्योंकि उन्हें नहीं लगता कि उनके पिता की कृति से छेड़छाड़ हुई है। वे तो स्वयं लिख रहे हैं कि 'सतनाम सिंह जी का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने दिन-रात खोज करके पिताजी की पुस्तक के नये संस्करण में आभूषण जैसी सूचनाएं जड़ दी है।' कंवल भारती जी को 'दो शब्द' लिखने के लिए डॉ. विवेक कुमार जी से भी शिकायत है। डॉ. विवेक कुमार जी इतने कच्चे खिलाड़ी नहीं हैं, जितने कि कंवल भारती जी उन्हें समझ रहे हैं। वे बिना छाने किसी भी तथ्य को ग्रहण नहीं करते। अतः पुस्तक के संवर्द्धन का मेरा कमर तोड़ काम भगवान दास जी के जीते जी ही हो गया था और यह उनकी सहमति से ही हुआ था। वे इस काम से वे बेहद खुश थे। पुस्तक जब प्रेस में थी, उसी दौरान भगवान दास जी

का दुःखद देहांत हो गया। मुझे गर्व है कि ऐसे वरिष्ठ हस्ताक्षर के साथ मुझे धोबी समाज पर शोध करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथा 'धोबी समाज' पुस्तक का को-राइटर बनने का मौक़ा मिला। उनके हाथ का स्पर्श मैं अपनी पीठ पर आज भी महसूस करता हूँ– **सतनाम सिंह**।

देखिये कंवल भारती ने मेरी पुस्तक ''मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे'' पर भी फेसबुक पर 28 अप्रैल, 2013 को क्या लिखा-

कंवल भारती–

''मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे'' दलित पत्रकारिता की सबसे घटिया किताब है। महीना भर पहले संजय कुमार की इस किताब की फेसबुक पर बहुत चर्चा थी। लखनऊ में उसका विमोचन हुआ था, उसके भी फोटो फेसबुक पर पोस्ट हुए थे। अतः इसे पढ़ने की जिज्ञासा होना स्वाभाविक था। संयोग से पटना में अपने मित्र दलित लेखक डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के सौजन्य से यह पुस्तक मुझे मिल गयी। अव्वल तो किताब का नाम ही बहुत भद्दा है, जैसे किसी विज्ञापन में था- 'दाग ढूँढ़ते रह जाओगे', उसी को चुरा कर इसका नाम रख दिया– 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे'। यह भद्दा नाम भी चल जाता, अगर इसमें भारत की मीडिया का कोई ताज़ा सर्वे होता और कुछ अख़बारों के अन्दर की कहानी होती। मीडिया में कुछ दलित पत्रकार काम भी कर रहे हैं। काश उनकी कहानी भी इसमें होती! बहुत अफसोस हुआ इस किताब को देखकर कि इसमें किसी भी कोण से दलित पत्रकारिता पर गंभीर काम नहीं हुआ है। किसी विषय पर किताब कैसे लिखी जाती है, उसका रत्ती भर शिल्प भी लेखक नहीं जानता है। दरअसल, यह किताब संजय कुमार के लेखों का संग्रह है और ये लेख भी उनकी गंभीर लेखन-प्रतिभा का परिचय नहीं देते हैं। उनसे बढ़िया और गंभीर काम तो पत्रकारिता पर डॉ. श्योराज बेचैन और चंद्रभान प्रसाद कर चुके हैं।

संजय कुमार की इस किताब में क्या है? आइये देखते हैं। पहला अध्याय हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' पर है, जो पत्रकारिता का विषय ही नहीं है। शुरुआत होनी चाहिए थी स्वामी अछूतानन्द की दलित पत्रकारिता से, जो उन्होंने बीस के दशक में 'आदि हिन्दू' अख़बार निकाल कर शुरू की थी। शायद संजय कुमार को यह सब मालूम ही न होगा। दूसरा अध्याय वही है, जो किताब का नाम है। इसमें भी लेखक या उसकी टीम का अपना कोई सर्वे नहीं है। पहले जो सर्वे हो चुके हैं, उनको आधार बनाकर ही लेखक ने अपनी बात कहने की कोशिश की है। इसमें भी इस सवाल को पूरी शिद्दत से नहीं उठाया गया है कि मीडिया में दलित क्यों नहीं हैं? दलित को लिया नहीं जाता या दलित मीडिया में जाना नहीं चाहते, इन दोनों सवालों पर चर्चा होनी चाहिए थी। अगर सर्वे किया जाएगा, तो शायद हमें यह जानकार निराशा ही हो सकती है कि दलित जातियों में पत्रकारिता को पेशा बनाने वाले लोगों की संख्या बहुत कम है। क्यों? इस पर भी विचार होना चाहिए। एक अध्याय है– 'दलित सवालों की

अनदेखी'। हिंदी पत्रकारिता में यह सबसे ज्वलंत मुद्दा है, लेकिन लेखक ने इसे सबसे ज्यादा हास्यास्पद बना दिया है। इस पूरे अध्याय को संजय कुमार ने रामगोपाल भारतीय की पुस्तक 'दलित साहित्य के यक्ष प्रश्न' से लेकर चूं-चूं का मुरब्बा बना दिया है, जबकि इतने ज्वलंत मुद्दे पर हिंदी पत्रकारिता की वस्तुगत समीक्षा की जानी चाहिए थी। इसी तरह का मलीदा उन्होंने 'दलित पत्रकारिता की दिशा' और 'दलित पत्रकारिता' अध्यायों में बनाया है।

इस पुस्तक को पढ़ कर पाठक को न तो दलित पत्रकारिता की जानकारी होगी कि वो क्या है और न दलित पत्रकारिता के उद्भव और विकास के बारे में वो कुछ जान पाएगा।''

कंवल भारती के फेसबुकिया समीक्षा को मैंने स्वीकारा और अपनी बात रखी, तो मुझे अनफ्रेंड कर बहस को बीच में छोड़ भाग खड़े हुए!

मैंने जो जवाब दिया- मेरी किताब 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' को कंवल भारती जी ने फेसबुक पर समीक्षा करते हुए इसे घटिया पुस्तक बताया है। यानी दलित विमर्श उनकी नज़र में घटिया है? मीडिया में दलित नहीं हैं, उस पर चर्चा करना घटिया है? दलितों के सवाल मीडिया में नहीं उठते हैं– यह बताना घटिया है? तो कंवल भारती जी, यह पुस्तक घटिया ही सही!

'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' शीर्षक पर सवाल उठाया है और उसे भद्दा विज्ञापन करार दिया है। क्या उन्हें पत्रकारिता की ए. बी. सी. डी. आती है? मुझे लगता है– नहीं, अगर आती होती तो शायद इस तरह की बात नहीं करते? क्योंकि पत्रकारिता की नज़र में शीर्षक होते ही आकर्षित करने के लिए हैं। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' दलित पक्ष में खड़ा है। जहाँ तक शीर्षक का सवाल है, तो पुस्तक यहीं से दलित विमर्श शुरू कर देता है और यह सौ प्रतिशत सत्य है। अगर भारती जी इसे नकारते हैं, तो यह उनकी बौद्धिक व सामाजिक सोच है या उनके द्विज मानसिकता का द्योतक होना दर्शाता है। जहाँ तक उन्होंने पुराना सर्वे का सवाल उठाया है, तो लगता है पूर्वाग्रह से ग्रसित है। सर्वे के आँकड़े आज भी वैसे ही खड़े हैं और हाँ, आपने शायद मेरी पुस्तक ठीक से नहीं पढ़ी, सरकारी मीडिया में दलितों की भागीदारी पर ताज़ा सर्वे है... ज़रा पन्ने पलट लें और हाँ आपके पास कोई ताज़ा सर्वे हो तो कृपया दें, अगले संस्करण में डाल दिया जाएगा।

हीरा डोम पर आप भड़क क्यों गये! यहाँ भी आप चूक गये। आश्चर्य, आप जैसे विद्वान चूक कैसे गये? किताब हीरा डोम को समर्पित है, वो इसलिए कि जो पीड़ा हीरा डोम ने 1913-14 में दर्ज़ करायी थी, वह आज भी मौजूद है। पता नहीं आप जैसे द्विज मानसिकता वालों को दिखती क्यों नहीं? जहाँ तक अछूतानंद जी की बात है, तो बता दूँ, मेरी पुस्तक दलित सरोकार और मीडिया से है। दलित पत्रकारिता के इतिहास-उद्भव-विकास पर फोकस नहीं। मेरा मक़सद मीडिया में दलितों के वर्तमान

संदर्भों को उठाना और उनकी भागीदारी, उनके सवालों को लेकर खड़ा होना है। गोलबंद होना है। मुझे लगता है कि इस मामले में पुस्तक से कुछ काम हुआ भी है, जिस साथी से आपको पुस्तक मिली है, वे मुझे व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते थे, उन्होंने पुस्तक खरीदी और फोन कर चर्चा भी की। देश भर से फोन, पत्र आये और मीडिया में दलितों की भागीदारी नहीं होने पर चर्चा हुई।

आपकी आलोचना का फिर भी स्वागत है, लेकिन मैं इससे पीछे हटने वाला नहीं हूँ। मेरी मुहिम दलित-शूद्र को हर धारा में आगे लाने को लेकर है और यह जारी रहेगी। आप जैसे द्विज सोच वाले मेरी सोच को हिला नहीं सकते। मुझे लगता है कि आपने ठीक से पुस्तक नहीं पढ़ी...। आलोचना होनी चाहिए, लेकिन दंभ के साथ नहीं। आपकी भाषा में दंभीपन की बू आती है, तभी तो पुस्तक में श्री सतनाम सिंह के लिखे को भूल गये, बल्कि गोल कर गये। ख़ैर, मैं अपनी पुस्तक के साथ दलित-शूद्र के पक्ष में खड़ा हूँ। आपको लगता है कि यह पुस्तक खड़ी नहीं है, तो आप लिख मारिये और खड़े हो जाइये। मैं आपका स्वागत करूँगा।''

सतनाम सिंह और मेरे जवाब के बाद कंवल भारती का खामोश होना दर्शाता है कि उनकी आलोचना साकारात्मक नहीं, बल्कि अपने समाज व लेखकों की टांग खींचने व उन्हें हतोत्साहित करना भर है। सवाल खड़ा होता है कि उनका यह द्विज व्यवहार कैसा? कंवल भारती द्वारा बीच बहस से जाना और आ रही प्रतिक्रिया से बौखला कर दोस्तों की सूची से विरोध करने वालों को हटाना, जाहिर करता है कि उनकी विचारधारा ब्राह्मणवादी है। आलोचना सुनने का माद्दा उनमें नहीं दिखा। यह व्यवहार दिखाता है कि उनका दलित हित से कोई लेना-देना नहीं, बल्कि वे द्विज हित के पुरोधा है। आइये देंखे फेसबुक पर उनके लिखे और मेरे जवाब पर क्या कमेंट आया-

शम्भू दयाल वाजपेयी : किताब तो मैंने नहीं देखी, अपने पत्रकारीय अनुभव से यह कह सकता हूँ कि दोनों बातें होती हैं। लोग आते भी कम हैं और मठाधीशी व गुटबाजी में फंसे स्टाफ में इन्हें अपेक्षित संरक्षण-प्रोत्साहन और वरीयता भी नहीं मिलती। मेहनत और लिखने-उखने में ये किसी से कम नहीं होते। कथित सवर्ण भी पहले दिन से तीसमारखां नहीं होते। धीरे-धीरे सीखते-बढ़ते हैं।

कंवल भारती : यह किताब इस विषय पर कोई चर्चा नहीं करती।

संजीव खुदशाह : यह ठीक बात है, अच्छी को अच्छा और बुरी किताब को बुरा कहना। नाम से तो किताब मुझे भी अटपटी लगी।

अनिल कुमार विश्वा : सर, आपकी पुस्तक माझी जनता दलित पत्रकारिता और विमर्श में भी लेखों का ही संग्रह है, उसमें भी दलित पत्रकारिता क्या है, किसको कहते हैं, ऐसा कुछ नहीं है।

कंवल भारती : मुझे आपकी पढ़ाई पर तरस आता है।

अनिल कुमार विश्वा : आप लोगों की दिक्कत यही है।

संजय कुमार : धन्यवाद भारती जी....... आपने मेरी किताब पढ़ी और समीक्षा की। सबसे पहले तो यह बता दूँ कि यह पुस्तक दलित पत्रकारिता पर या इसके इतिहास-उद्भव-विकास पर नहीं है। मैंने ऐसा कहीं या किताब में भी कहा या लिखा नहीं है। इसमें सिर्फ़ मैंने मीडिया में दलितों की स्थिति की वस्तुस्थिति की चर्चा की है, लेकिन बतायें कि जो लिखा, जो सवाल उठाये गये हैं, क्या वह गलत है? किसी किताब में किन विषयों को उठाना चाहिये, यह हर लेखक की अपनी सोच होती है। अगर आपको ऐसा लगता है कि इन सवालों को लेकर किताब लिखी जानी चाहिये, तो बेहतर होगा, आप ही लिखें। वैसे तो शोध-सर्वे-चर्चा का कोई अंत नहीं है, यह तो निरंतर चलता रहता है और बेहतरी के लिए चलते रहना भी चाहिये।

कंवल भारती : आपको काम करना ही नहीं आया।

शेख अहमद : किताब के अंदर की सामग्री कुछ भी हो, लेकिन किताब का नाम सच्चाई का आईना है।

कवि विजय मिश्र विजय : कब तक ऐसी सोच रहेगी, ऐसा बोला जाएगा, जातिवाद का जहर देश में.... कब तक घोला जाएगा...?

कंवल भारती : शेख अहमद जी, नाम को सही साबित भी तो करना होता है।

शेख अहमद : देखिये, कंवल जी अगर किताब ना भी छपे, तो भी शीर्षक एकदम सटीक है, क्योंकि मीडिया में सिर्फ बाह्मणों का ही वर्चस्व है, लेकिन अफ़सोस ये कि बाह्मण इसके खिलाफ बोलने को जातिवाद का जहर कहते हैं।

कंवल भारती : मुझे बताएंगे कि इस वर्चस्व को तोड़ने के लिए आपने या दलितों ने क्या किया?

शेख अहमद : बाह्मणवादी मीडिया बेहद ख़तरनाक जहर है जिसमें सिर्फ़ जेनऊ को वरीयता मिलती है, प्रतिभा को नहीं।

कंवल भारती : शेख जी, न तो आप दलित हैं और न आपने संजय कुमार की किताब पढ़ी है, फिर आप किस हैसियत से बात कर रहे हैं?

स्वदेश कुमार कोरी : दलित चिंतन, दलित चिंतक और दलित चिंता में सबसे महत्वपूर्ण क्या है, पहले ये तय हो।

कंवल भारती : आपने तय किया क्या।

शेख अहमद : मैं मीडिया से जुड़ा हूँ और संजय जी कि किताब मैंने नहीं पढ़ी है, लेकिन इस बात से पूरी तरह सहमत हूँ कि दलितों की संख्या मीडिया में ढूँढ़ने वाली है।

स्वदेश कुमार कोरी : तय करने वाले तो सवर्ण होंगे।

कंवल भारती : शेख जी, जब दलित मीडिया में जाना ही नहीं चाहते, तो आप क्या करेंगे? आप इस फील्ड में कमेंट न ही करें, तो ठीक होगा।

स्वदेश कुमार कोरी : दलित मीडिया में नहीं जाते, यह तो ठीक है, मीडिया में

दलित कैसे जायें, इस पर सोचा जाये।

कंवल भारती : क्या आपके बच्चे मीडिया में गये? अगर नहीं गये, तो क्यों?

स्वदेश कुमार कोरी : हमारे बच्चे मीडिया में इसलिये नहीं जाते, क्योंकि वो बनिये की नौकरी नहीं करना चाहते, वो तो ठाकुर, पंडित की गुलामी करना चाहते हैं।

कंवल भारती : आपको अपने सवाल का जवाब मिल गया, अब आप खामोश हो जाएं... गुड नाइट।

संजय कुमार : मेरा मक़सद मीडिया में दलित के वर्तमान संदर्भ को उठाना था, सवालों को खड़ा करना था और मुझे लगता है कि इस मामले में पुस्तक से कुछ तो काम हुआ ही है। अन्यथा आप यहाँ इस पुस्तक की चर्चा नहीं कर रहे होते?

कवि विजय मिश्र विजय : आदरणीय भारती जी, सादर जय भारती.... मैं उम्र में लगभग आपके समकक्ष हूँ। ऊपर मेरे द्वारा लिखी गयी लाइन मात्र प्रसंगवश थी। उसे मात्र आप कविता में लें अन्यथा नहीं, फिर भी यदि इस कविता विनोद से आपको कष्ट पहुँचा है, तो मैं खेद व्यक्त करता हूँ। आप जानना चाहते हैं, इसलिये बता दूँ कि मेरा छोटा भाई संपादक है, जिसका एक समाचार पत्र एवं दो पत्रिकाएं प्रकाशित होती है। मेरा दामाद एवं बेटी इलैक्ट्रॉनिक मीडिया से जुड़े हैं। मेरा बेटा पत्रकार है, मेरे दो भतीजे भी प्रेस रिपोर्टर हैं। मेरा उद्देश्य आपको दुःख पहुँचाना कतई नहीं था। शुभ रात्रि...।

शेख अहमद : और कंवल जी आपने पहले ही क्यों नहीं इस पोस्ट पर नोटिस चिपकाया कि कृपया ग़ैर दलित इस पर कमेन्ट न भेजें, चाहे वो पत्रकार ही क्यों न हों।

(कंवल भारती की समीक्षा से उठे प्रश्न का जवाब मैंने दिया, मेरे जवाब के बाद श्री भारती ने मुझे अनफ्रेंड किया। मेरे जवाब पर जो कमेंट आया, उसे यहाँ दिया जा रहा है।)

डॉ. पवन कुमार खरवार : संजय जी बुक बहुत बढ़िया लिखी है। मैंने पढ़ी है, लेकिन आपने इसमें कुछ कमियाँ रखी। अभी तक जो भी योगदान रहा हमारा, उसका पेज भी होना चाहिये।

संजय कुमार : जी, सही है कि कुछ कमियाँ हैं, रह जाती हैं। सबको एक बार में समेटना थोड़ा मुश्किल हो जाता है। भविष्य में उस पर भी काम होगा, कई मित्रों ने बताया है कि काम हो भी रहा है। मैं करूँ या कोई और!

डॉ. पवन कुमार खरवार : दलित दस्तक पत्रिका में एक लेख था मीडिया में दलित उसका चैप्टर होता...। खै़र, आपकी किताब का इंतज़ार रहेगा... दूसरे संस्करण की जल्द उम्मीद करता हूँ।

सरजीत प्रताप सिंह : आदरणीय कंवल भारती जी सम्मानित, गुणी एवं बहुत वरिष्ठ साहित्यकार हैं, उनकी आलोचना को एक अभिभावक की आलोचना के रूप में लिया जाना श्रेयकर होना चाहिए...। बाकी मैं साहित्यकार नहीं हूँ .. तो ज्यादा बोल

नहीं सकता।

चंदन कुमार मधुकर : सर... आपको बहुत-बहुत बधाई... हमारे समाज की एक कड़वी सच्चाई पर आपने किताब लिखी है।

अनिल कुमार विश्वा : दलित लेखकों में भी मठाधीशी शुरू हो गयी है।

शेख अहमद : संजय जी कुछ लोग सिर्फ़ आलोचक होते हैं, उनको इससे कुछ लेना-देना नहीं कि इस किताब के शीर्षक द्वारा यह सच सामने लाने की कोशिश की गयी है कि दिन-रात समाज की बुराइयाँ और अत्याचार दिखाने ग़ैर बराबरी का विरोध करने वाले मीडिया में भी भेदभाव की जड़ें कितनी गहरी हैं! तो कुछ तथाकथित बुद्धिजीवी इस बात को उठाने के लिए संजय जी को बधाई देने के बजाय इस किताब में सिर्फ़ बुराइयाँ देखने के लिए दूरबीन लेकर बैठ गये। वैसे अब आपको इस बात की चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अब दलित मीडिया को कंवल जी जैसा महान उद्धारक जो मिल गया है।

अनिल कुमार सिंह : मैं कंवल भारती जी को नहीं जानता, क्या दलित हैं?

संजय कुमार : शेख अहमद जी बिल्कुल सही कहा है। मेरा भी मक़सद यही है की तस्वीर क्या है और आलोचना से तो सीखने का अवसर मिलता है, लेकिन श्री भारती जी की मनसा ठीक नहीं है और न ही उनकी भाषा। वे केवल हतोत्साहित करने का काम करते हैं। दलित दस्तक के श्री अशोक दास के साथ भी उन्होंने यही किया था।

राजेश कुमार : लगता है, कंवल भारती किसी कनफ्यूजन में हैं।

शेख अहमद : और जो व्यक्ति किसी के कमेन्ट न बर्दाश्त कर सके और कहे कि आप तो दलित हो नहीं, इसलिए आप न कमेन्ट करें, तो समझा जा सकता है कि कितनी संकुचित सोच का मालिक है?

अमरेंद्र मोहन : शेख अहमद जी, मैं आपके इस कथन से सहमत नहीं हूँ, यह ज़रूरी नहीं कि जिसने अपनी पुस्तक लिखी और जिसने पुस्तक पढ़ी, दोनों का विचार समान हो, लेकिन आपने जो विचार व्यक्त किया, वो संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक लगता है।

संजय कुमार : अमरेंद्र मोहन जी, मान्यवर भारती जी का रवैया ही ऐसा रहता है। वैचारिक सोच ठीक है, लेकिन खुंदक में बातें कहना उनकी आदत-सी है... देखिए उन्होंने श्री अशोक दास को क्या लिखा था...।

(6 फरवरी, 13 को दलित मत के वाल पर) **कंवल भारती–** *दलित मत हों या कोई भी दलित प्रकाशक, उन्हें मार्केटिंग करनी नहीं आती। जो फोटो आपने लगाया है, उससे कुछ हासिल होने वाला नहीं है।*

जय सिंह : ज़रूरत संजय कुमार के काम को आगे बढ़ाने की है, न कि अपनी कुंठा समीक्षा के बहाने निकालने की है। विद्वता का ठेका किसी एक को नहीं लेना

चाहिये।

शेख अहमद : कंवल जी एक बेहतरीन आलोचक, लेकिन बेहद बदतरीन समीक्षक।

दिनेश कुमार : संजय सर, सबका अपना नज़रिया ...और बात रही आपकी किताब कि तो वह एकदम शानदार है ....और जहाँ तक कंवल जी के सजेशन का सवाल है, तो आपको किसी के सजेशन से जरूरत नहीं है, क्योंकि अगर कंवल जी किताब की आलोचना कर रहे हैं, तो सैकड़ों लोगों ने तारीफ़ भी की है ...ऐसे मामलों में किसी के सर्टिफ़िकेट या सलाह की बिल्कुल आवश्यता नहीं है...।

सुशील कुमार : कंवल जी किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं। तभी ही इस तरह का बयान दे रहे हैं, शायद कंवल साहब आर.एस.एस. की आइडियोलोजी से इम्प्रेसड होकर बोल रहे हैं।

शशि सागर : मापदंडों पर ही लिखा-बोला जाये ....मैं इसका पक्षधर नहीं हूँ। सर, आपने जो लिखा, जिसके लिए बात उन तक पहुँची, यही काफी है। कंवल जी की टिप्पणी मैंने पढ़ी, दुःखद, उन्हें यह पच क्यों नहीं रहा है? आप धन्यवाद के पात्र हैं, जो इस मुद्दे को लिखा। समाज में बेहतर ऐसे लोग हैं, जो वेतन उठाते और बीबी-बच्चों में मगन रहते हैं, कम से कम आपने लिखा तो। साहस तो उठाया।

संजय कुमार : मित्रो.....मेरे जवाब के बाद श्री कंवल भारती जी बीच बहस से भाग खड़े हुए.... जिन-जिन ने उनकी आलोचना की, उसे अनफ्रेंड कर जाहिर कर दिया कि वे मुद्दे पर बहस नहीं करना चाहते ...केवल अपनी मठाधीशी करना चाहते हैं ...ख़ैर, वे बड़े हैं, सम्मान है उनके कदम का।

दलित मत : यह समीक्षा बिना द्वेष की लिखी गयी होती, तो मैं भी इसका स्वागत करता, पर इस फेसबुकीय समीक्षा की पहली लाइन ही द्वेष से लिखी गयी मालूम पड़ती है। वैसे समीक्षक महोदय ने जवाब नहीं दिया अब तक।

मंजित आंनद : कंवल भारती जी की टिप्पणी से दलित मुद्दे की अनदेखी और विरोध साफ़ हो जाता है।

कंवल भारती : अपनी समीक्षा में जो सवाल मैंने उठाये हैं, उन पर कोई भी बात नहीं कर रहा है। पहले मेरे सवालों का जवाब दीजिये।

दलित मत : ठीक है कि आपने सवाल उठाया है, लेकिन ऐसा क्यों लग रहा है कि वह दुर्भावना से प्रेरित है। आपकी भाषा और शब्दों के चयन को देखने के बाद एक बार मैं भी भौंचक रह गया, इसलिए बहस के केंद्र में आप आ गये। अगर आपने अग्रज की तरह कमियाँ ढूँढ़ी होती, तो मुझे लगता है कि संजय जी भी उसका स्वागत करते। इसलिए नियत पर सवाल तो उठेंगे। मुझे तो यह भी याद आ रहा है, जब आपने दलित दस्तक के मार्च अंक के कवर पर ही टिप्पणी कर दी थी कि– वह अंक ख़ास नहीं है। आप बताएंगे, बिना देखे आपने वह किस आधार पर कहा? कहीं किसी ज्योतिष

वगैरह के चक्कर में तो नहीं पड़ गये थे?

संजय कुमार : कंवल जी आपके सारे सवालों के जवाब मैंने दिये हैं... और हाँ एक बात और आपने एक कमेंट डाला था ....सैर-सपाटे और ऐय्याशी के लिये गये थे ....और फिर आपने उसे डिलीट कर दिया। क्या यही आपकी भाषा है? अगर यह बता दूँ कि आप लखनऊ जाकर क्या करते हैं तो?

कंवल भारती : अशोक जी, मैं ऐसा ही हूँ। द्वेष बराबर वालों से होता है, संजय कुमार से क्या द्वेष, जिन्हें मैं जानता तक नहीं। मेरा कभी उनसे संवाद नहीं हुआ, फिर भी अगर आपको लगता है कि मैंने अपना द्वेष निकल है, तो आपकी इस सोच का मेरे पास कोई इलाज नहीं है। मैं आपकी तरह बीच के रास्ते पर नहीं चलता हूँ।

शेख अहमद : क्या बात है कि द्वेष तो बराबरी वालों से होता है, जूनियरों को तो हतोत्साहित किया जाता है।

संजय कुमार : श्री अशोक जी .....श्री कंवल भारती जी के लिखे के बाद मैंने जवाब दिया तब ...उन्होंने अनफ्रेंड का कदम उठाया और हाँ, वे झूठ बोल रहे हैं। मुझे अच्छी तरह से जानते हैं।

विजय अग्रवाल : संजय जी, कंवल भारती जी को दुःख शायद इस बात का है कि दलितों की कोई चिंता क्यों कर रहा है, वह भी सरकारी पद पर बैठकर, सरकारी पद पर बैठे पदाधिकारी को तो अपने बराबर वालों के लिए सोचना चाहिए। हाँ, एक संतोष की बात भी इसमें है कि पुस्तक अपने मक़सद में कामयाब हो गयी, नहीं तो कम से कम कामयाब होने की डगर पर तो है ही।

सगीर अहमद : यह क्या हो रहा है भाई।

शेख अहमद : इनके हिसाब से यह होना चाहिए, वाह! वाह! कंवल जी क्या समीक्षा की है, आपने तो पूरा किताब का चीरहरण ही कर डाला। इस युग के सबसे महान समीक्षक तो आप ही हैं, तो कंवल जी फूल के कुप्पा हो जाते।

शेख अहमद : यह ए. के. हंगल कहाँ से आ गए।

कंवल भारती : शेख अहमद लगता है, तुम जन्मजात बदतमीज हो।

शेख अहमद : कंवल जी मैंने आपकी प्रतिभा पहचानने की क्षमता पर कभी शक नहीं किया।

संजय जादव : ये कंवल भारती कौन हैं?

ताहिरा हसन : संजय जी, कंवल भारती ने क्या सवाल उठाया? यह सच है कि केवल एक प्रतिशत दलित मीडिया में है।

विजय कुमार : दलित ही क्यों, शूद्रों की भी संख्या नाम मात्र ही है मीडिया में।

विजय कुमार : वर्गवाद और दलित को अलग करके मत देखिए, उसे भी आगे की बात कि गरीब लोग कितने हैं मीडिया में। जितनी भी ऊपर पोस्ट पर हैं, उसमें आप सर्वे करा सकते हैं।

शेख अहमद : 'कंवल जी' आप कामरेड हैं, तो मैं भी सी.पी.एम. हूँ।

रवींद्र रंजन : मेरे ख्याल से एक समीक्षक पुस्तक को अपने नज़रिये से देखता, पढ़ता और विचारता है। उसे पुस्तक के बारे में अपने निजी विचार लिखने होते हैं, जिसकी उसे स्वतंत्रता दी जाती है और हमें इस स्वतंत्रता का सम्मान करना चाहिए। अगर आलोचना से बचना है, तो अपने किसी ख़ास मित्र से या फिर खुद ही किसी छद्म नाम से समीक्षा लिखी जा सकती है, जिसमें पुस्तक के बारे में सब अच्छा-अच्छा ही लिखा गया हो।

सगीर अहमद : संजय जी, मैंने न आपकी किताब पढ़ी है, न कंवल साहब की टिप्पणी पढ़ी और आपका जवाब कुल मिलाकर आपने अपनी किताब का पक्ष लेने के बजाय कंवल साहब की भीतरी ज़िंदगी पर बड़ा घातक हमला किया है, जो मेरे विचार से पूर्णतः अनैतिक है। आपने अपने किताब की आलोचना को तथा अपने परिचय की बात को गंभीरता से नहीं लिया है। मेरी समझ से अपने व्यक्तिगत परिचय को लेखकीय परिचय मानकर बहुत बड़ी गलती भी की है, जो अंततः आपको निचले स्तर पर भी ला खड़ा कर दिया है, जिसको लेकर आप धैर्य खो बैठे। कंवल साहब लंगनर है, अधेड़ हैं या उनका कैसा चरित्र है, यह सब कुछ उनके अपने विचारों को बाधित नहीं करता और न तरीका या लेखन प्रक्रिया को, जिससे उनकी मुख्य पहचान बनी है। मेरे समझ से लिखे गये विचारों को फिर से आपको अलग से बोलकर समझाना पड़ें। लेखक के रूप में मेरा-आपका पहला परिचय हुआ है, जबकि मैं भी आपके विचारों को पढ़ता रहा हूँ। इसे आप क्या कहेंगे? कंवल साहब महान विचारक हैं।

संजय कुमार : जी मैंने कब कहा कि श्री भारती जी की समीक्षा ख़राब है, मैंने उनकी भाषा पर सवाल उठाया था। वे एक अच्छे आलोचक हैं, तो उनसे यह उम्मीद नहीं थी ...और हाँ मैंने उन्हें लिखने के लिए नहीं कहा था .....आप खुद पढ़ें...उनके लिखे में विरोधाभास है। और हाँ वे बड़े हैं ...मान्यवर हैं ..... उनका कमेंट, जवाब क्या एक आलोचक की भाषा है? और हाँ ...मेरे जवाब के बाद कई ने अपने विचार रखे ...जिन्होंने उनके हिसाब से नहीं लिखा, उन्हें दोस्त की सूची से हटा दिया, क्या यह एक आलोचक का उचित रवैया है?

संजय कुमार : सगीर अहमद जी आभार... आग्रह है, एक बार आप श्री कंवल जी के लिखे को पढ़ें और जो कमेंट डिलिट कर दिया उसे भी ......मैंने उनकी भाषा पर सवाल उठाया है ......और न ही मैंने अपनी भाषा को खराब किया है ...बल्कि सम्मान दिया है ...उन्हें व्यक्तिगत तौर पर कुछ नहीं कहा? .....मीडिया में दलित .... मुद्दे पर लखनऊ में श्री वीरेंद्र यादव जी, श्री अरुण खोटे जी, श्री आर.एस.दारापुरी जी, श्री कौशल किशोर जी, श्रीमती ताहिरा जी ने चर्चा की। और कई सवाल उठे। जहाँ तक मेरे विचारों का सवाल है, तो उस पर मैं कायम हूँ और दलित-शूद्र के हक़-

हक़ूक़ के लिए काम करता रहूँगा।

रंजीत कुमार : आपकी पुस्तक की आलोचना करने वाले शायद इसलिए डरे हैं कि कहीं, उनका दलित विमर्श उनसे न छिन जाए, जिसको बेचकर उनकी दुकानदारी चल रही है। आप बधाई के पात्र हैं, जो आपने ऐसी दलित सरोकार से जुड़ी पुस्तक लिखी। हम आशा करते हैं, आप भविष्य में भी अपनी लेखनी के द्वारा गंभीर विमर्श को धार देंगे।

एम.एस.पासवान : ये भारती अपने आपको बाबा समझता है क्या? इसके कमेंट से तो यही लगता है ये सब संकुचित मानसिकता वाले लोग हैं, जिसे अपने अलावा दूसरों का ओपिनियन ही अच्छा नहीं लगता है। ये भारती जो हों, लेकिन इसके घमंड भरे ये शब्द द्वेष बराबर वालों से होता है (संजय कुमार से क्या द्वेष?) यह परिलक्षित करता है कि इसके दिलों-दिमाग में दलितों के प्रति क्या भरा है।

जहाँ तक पुस्तक 'मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे' का प्रश्न है, तो यह मीडिया में दलित व सरोकारों को लेकर लिखे गये लेखों का संग्रह है। इसमें प्रकाशित लगभग सभी आलेख चर्चित दलित साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय जी की पत्रिका 'बयान' में प्रकाशित हो चुके हैं।

('बयान' जून 13 में प्रकाशित।)

मीडिया में दलित आंदोलन के लिए जगह नहीं

भारतीय मीडिया पर आरोप है कि वह दलित आंदोलन को तरजीह नहीं देता। दलित उत्पीड़न-शोषण, विमर्श और सवाल-जवाब को मुद्दा बना कर पेश करने से परहेज करता है। मीडिया में दलित आंदोलन के नाम पर जो भी कुछ दिखता है, वह महज सहानुभूति या फिर अपने निष्पक्ष छवि को बचाने के लिए सोची-समझी साज़िश के तहत किया जाता है। कई राज्यों में तो दलित आंदोलन को भी मीडिया में जगह नहीं दी जाती है, जबकि कहीं-कहीं थोड़ी जगह देकर महज खानापूर्ति कर दी जाती है।

भारतीय मीडिया में दलित आंदोलन के लिए कोई जगह नहीं है। वह तो क्रिकेट, सिनेमा, फैशन, तथाकथित बाबाओं, सनसनी, सेक्स-अपराध, भूत-प्रेत और सेलिब्रिटीज के आगे-पीछे करने में ही मस्त रहता है। इसके लिए अलग से संवाददाताओं को लगाया जाता है, जबकि जन-सरोकार एवं दलित-पिछड़ों से संबंधित ख़बरों को कवर करने के लिए अलग से संवाददाता को बीट देने का प्रचलन लगभग ख़त्म हो चुका है। इसे बाज़ारवाद का प्रभाव मानें या द्विज-सामंती सोच। मीडिया सेक्स, खान-पान, फैशन, बाज़ार, महँगे शिक्षण संस्थान के बारे में ख़ास रुचि दिखाता है। ऐसे में दलित आंदोलन के लिए मीडिया में कोई जगह नहीं बचती। अख़बार हो या ख़बरिया चैनल, दलित आंदोलन कभी मुख्य ख़बर नहीं बनता है। अख़बारों में हीरो-हीरोइन या क्रिकेटर पर पूरा पेज छाया रहता है, तो वहीं चैनल पर इन्हें घंटों दिखाया जाता है। दलित उत्पीड़न को बस ऐसे दिखाया जाता है, जैसे किसी गंदी वस्तु को झाड़ू से बुहारा जाता हो।

समाज के अंदर दूर-दराज़ के इलाक़ों में घटने वाली दलित उत्पीड़न की घटनाएं धीरे-धीरे मीडिया के पटल से गायब होती जा रही हैं। एक दौर था, जब 'रविवार', 'दिनमान', 'जनमत' आदि प्रगतिशील पत्रिकाओं में रिपोर्ट आ जाती थी। ख़ासकर, बिहार व उत्तर प्रदेश में दलितों पर होते अत्याचार को ख़बर बनाया जाता था। बिहार के वरिष्ठ पत्रकार श्रीकांत की दलित उत्पीड़न से जुड़ी कई रिपोर्ट उस दौर में छप चुकी है, वे मानते हैं कि 'आज मुख्यधारा का मीडिया, दलित आंदोलन से जुड़ी चीज़ों को नहीं के बराबर जगह देता है। पत्र-पत्रिकाएं कवर स्टोरी नहीं बनाती हैं, जबकि घटनाएं होती ही रहती हैं। हालाँकि, एक-आध पत्र-पत्रिकाएं हैं, जो कभी-कभार मुद्दों को जगह देते दिख जाती हैं।'

साठ-सत्तर के दशक में दलितों, अछूतों और आदिवासियों, दबे-कुचलों की चर्चाएं मीडिया में हुआ करती थी। दलित व जनपक्षीय मुद्दों को उठाने वाले पत्रकारों को वामपंथी या समाजवादी के नज़रिये से देखा जाता था, लेकिन सत्तर के दशक में गरीबी, मँहगाई, बेरोजगारी और भ्रष्टाचार जैसे मुद्दों ने राष्ट्रीय मीडिया को बदलाव में धकेलना शुरू कर दिया। भारतीय मीडिया हिंदी मीडिया की जगह 'हिन्दू मीडिया' में तब्दील हो गया। मँहगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, अपराध और राजनीतिक समस्याओं के सामने दलित-आदिवासी-पिछड़ों के मुद्दे दबते चले गये। गाहे-बगाहे बाबरी मस्ज़िद प्रकरण के दौरान हिन्दू मीडिया का एक ख़ास रूप देखने को मिला। भारतीय मीडिया अपने लोकतांत्रिक मूल्यों और धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को कब छोड़ भौतिकवाद, साम्प्रदायवाद या यों कहें हिन्दूवादी मीडिया में बदला, इसका अंदाज़ा भी नहीं लग पाया!

सच है, दबे-कुचले लोगों के ऊपर दबंगों के ज़ुल्मो-सितम की ख़बरें बस ऐसे आती हैं, जैसे हवा का एक झोंका हो! जिसका असर मात्र क्षणिक भी नहीं होता। साठ-सत्तर के दौर में ऐसा नहीं था। सामाजिक ग़ैर बराबरी को जिस तेवर के साथ उठाया जाता था, उसका असर देर-सबेर राजनीतिक, सामाजिक और सत्ता के गलियारे में गूंजता रहता था। आज हालात यह है कि मीडिया के दृष्टिकोण में तथाकथित उच्चवर्ग फोकस में रहता है। कैमरे का फोकस दलित टोलों पर नहीं टिकता। टिकता है तो हाई प्रोफ़ाइल पर। बात साफ़ है, जो बिके उसे बेचो? अब ख़बर पत्रकार नहीं तय करता है, बल्कि मालिक और विज्ञापन तथा सरकुलेशन प्रमुख तय करते हैं। वे ही तय करते हैं कि क्या बिकता है और इसलिए क्या बेचा जाना चाहिए। जाहिर सी बात है 'दलित आंदोलन' बिक नहीं सकता?

दलित आंदोलन पर मीडिया के दृष्टिकोण के सवाल पर बंगाल के वरिष्ठ पत्रकार पलास विश्वास कहते हैं, मीडिया दलितों से जुड़े मुद्दे को नहीं के बराबर सामने लाता है। बंगाल में तो मीडिया दलित और पिछड़ों की ख़बरों को नहीं के बराबर अवसर देता है। शेष भारत में कभी-कभार दलित आंदोलन से जुड़ी बातें छप भी जाती हैं, लेकिन

हक़ीक़त यह है कि मीडिया द्वारा दलित आंदोलन को नज़रअंदाज़ किया जाता है। ऐसा वे जानबूझ कर करते हैं ताकि मुख्यधारा से दलित आंदोलन जुड़ न सकें। यह एक बहुत बड़ा कारण है। मीडिया उन्हीं दलित मुद्दों को छापता है, जिससे उन्हें ख़तरा महसूस नहीं होता और जो भी कुछ छापता है, उसे अपने हिसाब से छापता है। मीडिया में दलित जीवन संघर्ष नहीं के बराबर दिखता है। वहीं ग़ैर दलितों के मुद्दों को बखूबी जगह दी जाती है।

चर्चित दलित पत्रकार-साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय मानते हैं कि 'भारत का सवर्ण मीडिया आरम्भ से ही बेईमान और दोगले चरित्र का रहा है। उसकी कथनी और करनी में अंतर है। सच तो यह है कि पिछले एक दशक से वे दलित सवालों को अपने हित के लिए उछालने में लगे हैं। ऐसा करते हुए वे दलित सवालों को प्रतिनिधित्व नहीं दे रहे हैं, बल्कि दलितों को राजनीतिज्ञों की तरह रिझाते हैं। वह मार्केट तलाश करते रहे हैं, जो उन्हें मिल भी रहा है। दलित समाज के बुद्धिजीवियों को कम-से-कम यह समझना चाहिए। उन्हें अपने स्वतंत्र मीडिया की स्थापना कर उसका विकास करना चाहिए'(देखें पुस्तक : दलित साहित्य के यक्ष प्रश्न : डॉ. रामगोपाल भारतीय)

शोध से साफ़ हो चुका है कि मीडिया पर कब्जा सवर्णों का है। ऐसे में न्याय की बात बेमानी लग सकती है, बल्कि आरक्षण या फिर दलित-पिछड़ों के मामले में मीडिया के दोगले चरित्र से लोग वाकिफ हो चुके हैं। साहित्यकार जयप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं, राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तर के समाचार-पत्र राजनीति, अपराध समाचारों आदि से भरे रहते हैं। रविवारीय पृष्ठों में भी दलित सवालों और रचनाओं को कोई स्थान नहीं मिल रहा। साहित्य के नाम पर सवर्णों के साक्षात्कार, कहानियाँ, कविताएं ही आती हैं। इनके रविवारी परिशिष्टों में बहुत से स्थानों पर ज्योतिष, वास्तुशास्त्र तथा स्वास्थ्य चर्चाएं ही होती हैं। कुल मिलाकर मीडिया में दलित विमर्श गायब है। (देखें पुस्तक : दलित साहित्य के यक्ष प्रश्न : डॉ. रामगोपाल भारतीय)

दलित साहित्यकार डॉ. पूरन सिंह मानते हैं कि मीडिया में दलित सवालों को उचित प्रतिनिधित्व मिलना तो दूर, उन्हें गिना तक नहीं जाता। मीडिया, जिसे देश के विकास में चौथा स्तम्भ कहा जाता है, उसके मालिक सवर्ण मानसिकता के लोग यह बिल्कुल स्वीकार नहीं करेंगे, जिन्होंने इस समाज का सदियों से शोषण, अपमान, तिरस्कार सहा हो, उन्हें प्रतिनिधित्व दिया जाये? (देखें पुस्तक : दलित साहित्य के यक्ष प्रश्न- डॉ. रामगोपाल भारतीय) भारतीय मीडिया में दलित आंदोलन को लेकर जो कुछ भी चल रहा है, वह अपर्याप्त है। शुरू से ही मीडिया ने दलित आंदोलन को नज़रअंदाज किया है। इसकी वजह यह है कि मीडिया द्विजों का है। ऐसे में उसका देखने का नज़रिया अपना होता है। यह मानना है चर्चित कवि और दलित विमर्श से जुड़े कैलाश दहिया का। वे कहते हैं, दलित आंदोलन के नाम पर मीडिया अपनी दृष्टि सहानुभूति के तहत रखता है। जो भी कुछ दिखाया जाता है, वह मात्र शोषण-उत्पीड़न तक ही सीमित रहता

है। और इसमें सहानुभूति का पुट दिखता है। कभी भी द्विजों का यह मीडिया, दलित आंदोलन से उपजे सवालों के जवाब को नहीं ढूँढ़ता है। सामाजिक व्यवस्था को द्विज संचालित करते आये हैं, ऐसे में उनसे दलित आंदोलन के सकारात्मक पक्षों को उठाने की उम्मीद नहीं की जा सकती। जो भी दलित आंदोलन के नाम पर मीडिया में आ रहा है, वह झूठमूठ का है और वह इसलिए भी दिखाया जाता है कि उसके आड़ में वे अपने अंदर के मुखौटे को छुपाते हैं। मीडिया नहीं बताता कि जिस दलित महिला के साथ बलात्कार हुआ, शोषण हुआ, उसे करने वाला द्विज-क्षत्रिय-सांमत है। कथाकार-आलोचक रामयतन यादव कहते हैं, मुख्यधारा के मीडिया में दलित आंदोलन को जगह नहीं मिली है, क्योंकि बड़े पत्रकार इस मुद्दे पर नहीं लिखते हैं। इसके पीछे उन्हें वर्चस्व का खतरा महसूस होता है। मुख्यधारा की मीडिया पर काबिज़ लोग नहीं चाहते कि उनके वर्चस्व पर आक्षेप आये। यह सब सामाजिक चिंतन के तहत होता है। इसके तहत वे दलित आंदोलन की धारा को आगे बढ़ने नहीं देना चाहते हैं। द्विज मानते हैं कि लेखन-पठन का अधिकार केवल उनको ही हासिल है। दलित आंदोलन पर मीडिया की दृष्टि के सवाल पर दलित विमर्श से जुड़े दलित और गैरदलित ने दलित आंदोलन के प्रति मीडिया की उदासीनता के पीछे उसके द्विज-सामंती मानसिकता को दोषी ठहराया है।

लेखक व कथाकार प्रो. शत्रुघ्न कुमार कहते हैं, सदियों से सवर्ण कहे जाने वाले लोगों ने हर प्रकार से दलितों को हर प्रकार के अधिकारों से वंचित रखने का तंत्र बना रखा है, तो भला उन्हें यह कैसे स्वीकार्य होगा कि वे बहुजनों के लिए अलग मीडिया को स्वीकार करें। इसलिए बहुजनों को अपना अलग मीडिया तो बनाना ही होगा या तो इसे सवर्ण हिस्सेदारी के तौर पर वर्तमान मीडिया में संख्या के अनुरूप पचास प्रतिशत की हिस्सेदारी स्वीकार करें या फिर अलग 'बहुजन मीडिया' को स्वीकार करें। प्रसंगवश मैं एक उदाहरण से इसे और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, जब दलित साहित्य का उभार आया, तो सवर्ण चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे कि क्या साहित्य में भी आरक्षण लागू होगा? जब इससे भी उनकी बात नहीं बनी और दलित साहित्य निरंतर आगे बढ़ने लगा, तो फिर उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि क्या सवर्ण दलित साहित्य नहीं लिख सकते? प्रेमचंद आदि का उदाहरण देकर वे फिर मुखौटा लगाकर सदियों की अमानुषिक व्यवस्था को कायम रखना चाहते हैं। इस पर मैंने स्पष्ट रूप से विचार रखा है कि हाँ, सवर्ण भी दलित साहित्य लिख सकते हैं बशर्ते कि वे यह लिखें कि उनके पूर्वजों ने सदियों से दलितों पर किस-किस प्रकार मानसिक और शारीरिक एवं आर्थिक अत्याचार ढाते चले आये हैं और आज भी वे विभिन्न प्रकार से अत्याचार करते चले आ रहे हैं। जहाँ तक मीडिया में दलित आंदोलन के लिए जगह की बात है, तो बहुजन समाज के चिंतक, लेखक, पत्रकार और सच्चे समाजसेवी दलित मुद्दों को उठा रहे हैं, लेकिन अपना मीडिया नहीं होने से उन्हें पूरा अवसर नहीं मिल पा रहा

है। अतः दलित मुद्दे दबकर समाप्त हो जाते हैं। दलित आंदोलन को संतों, विचारकों, आधुनिक युग में फुले-आम्बेडकर, कांशीराम, रामस्वरूप वर्मा आदि अनेक बहुजन विचारकों ने बनाये रखा है। फुले-आम्बेडकर के बलिदान को भली-भाँति समझ कर बहुजन समाज के सक्षम लोगों के आगे आ जाने से दलित मीडिया निश्चित रूप से एक बहुत बड़े आंदोलन का रूप अख्तियार कर सकता है, जो अंततः समाज एवं राष्ट्र के उत्थान में सहायक होगा।

सच है कि जनमत के निर्माण में पत्रकारिता की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण होती है। इसके बावजूद मीडिया जनपक्षी मुद्दों को लगातार नहीं उठाता। जहाँ तक दलित मुद्दों के पक्ष में जनमत निर्माण की बात है, तो मीडिया इसे छूने से कतराता है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि मीडिया संस्थानों से दलितों का जुड़ाव कम ही रहा है। कहते हैं, मीडिया में दलित ढूँढ़ते रह जाओगे? मीडिया पर हुए राष्ट्रीय सर्वेक्षण से साफ हो चुका है कि भारतीय मीडिया में दलित और आदिवासी फैसला लेने वाले पदों पर नहीं हैं। राष्ट्रीय मीडिया के तीन सौ पन्द्रह प्रमुख पदों पर एक भी दलित और आदिवासी नहीं हैं।

आरक्षण के सहारे कार्यपालिका, न्यायपालिका, विधायिका आदि में दलित आये, लेकिन आज भी इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोकतंत्र के चौथे खम्भे पर काबिज होने में दलित पीछे ही नहीं, बल्कि बहुत पीछे हैं। आँकड़े गवाह हैं कि भारतीय मीडिया में वर्षों बाद आज भी दलित-पिछड़े हाशिये पर हैं, उनकी स्थिति सबसे ख़राब है। गिने-चुने ही दलित मीडिया में हैं और वह भी उच्च पदों पर नहीं। 'राष्ट्रीय मीडिया पर ऊँची जातियों का कब्ज़ा' के तहत सर्वे ने मीडिया जगत से जुड़े दिग्गजों की नींद उड़ा दी थी। आरोप-प्रत्यारोप का दौर भी चला। किसी ने समर्थन में दलित-पिछड़ों को आगे लाने की पूरजोर शब्दों में वकालत की, तो किसी ने यहाँ तक कह दिया कि भला किसने उन्हें मीडिया में आने से रोका है। मीडिया के दिग्गजों ने जातीय असमानता को दरकिनार करते हुए योग्यता का ढोल पीटा और अपना गिरेबान बचाने का प्रयास किया।

मीडिया स्टडी ग्रुप के सर्वे ने जो तथ्य सामने लाये, हालाँकि वह राष्ट्रीय पटल के हैं, लेकिन कमोवेश वही हाल स्थानीय समाचार जगत का है, जहाँ दलित-पिछड़े खोजने से मिलेंगे। मीडिया के अलावा कई क्षेत्र हैं, जहाँ अभी भी सामाजिक स्वरूप के तहत प्रतिनिधित्व करते हुए दलित-पिछड़ों को नहीं देखा जा सकता है, ख़ासकर दलित वर्ग को। आँकड़े बताते हैं कि देश की कुल जनसंख्या में मात्र आठ प्रतिशत होने के बावजूद ऊँची जातियों का, मीडिया हाउसों के इकहत्तर प्रतिशत शीर्ष पदों पर कब्ज़ा बना हुआ है। आँकड़े बताते हैं कि कुल उन्चास प्रतिशत ब्राह्मण, चौदह प्रतिशत कायस्थ, वैश्य/जैन व राजपूत सात-सात प्रतिशत, खत्री नौ, गैर द्विज उच्च जाति दो और अन्य पिछड़ी जाति चार प्रतिशत हैं। इसमें दलित कहीं नहीं आते, यानी ढूँढ़ते रह जाओगे।

जहाँ तक सरकारी मीडिया का सवाल है, तो इसमें अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के लोग भारतीय सूचना सेवा के तहत विभिन्न सरकारी मीडिया में कार्यरत हैं। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के वेबसाइट से प्राप्त आँकड़ों के अनुसार सरकारी मीडिया के ग्रुप 'ए' में उच्चतर वर्ग से लेकर जूनियर वर्ग में लगभग आठ प्रतिशत अनुसूचित जाति के लोग हैं, वही ग्रुप 'बी' में लगभग पन्द्रह प्रतिशत अनुसूचित जाति के हैं। सरकारी मीडिया में ग्रुप 'ए' और ग्रुप 'बी' की सेवा है, इनकी नियुक्ति रेडियो, दूरदर्शन, पी.आई.बी. सहित अन्य सरकारी मीडिया में की जाती है। अनुसूचित जाति के लोगों को मुख्यधारा में जोड़ने के मद्देनजर केन्द्र सरकार की नीतियों के तहत सरकारी मीडिया में तो दलित आ रहे हैं, लेकिन निजी मीडिया में कोई प्रयास नहीं होने की वजह से दलित नहीं दिखते।

आँकड़े/सर्वे चौंकाते हैं, मीडिया के जाति प्रेम को लेकर पोल खोलते हैं, प्रगतिशील बनने वालों पर सवाल भी दागते हैं। बिहार को ही लें, 'मीडिया में हिस्सेदारी' के सवाल पर पत्रकार प्रमोद रंजन ने भी जाति प्रेम की पोल खोली। बिहार मीडिया के मामले में काफी संवेदनशील व सचेत माना जाता है, लेकिन यहाँ भी हाल राष्ट्रीय पटल जैसा ही है। बिहार की राजधानी पटना में काम कर रहे मीडिया हाउसों में सतासी प्रतिशत सवर्ण जाति के हैं। इसमें ब्राह्मण चौंतीस, राजपूत तेईस, भूमिहार चौदह एवं कायस्थ सोलह प्रतिशत हैं। हिन्दू पिछड़ी-अति पिछड़ी जाति, अशराफ मुसलमान और दलित समाज से आने वाले मात्र तेरह प्रतिशत पत्रकार हैं। इसमें सबसे कम प्रतिशत दलितों का है। लगभग एक प्रतिशत ही दलित पत्रकार बिहार की मीडिया से जुड़े हैं। वह भी कोई ऊँचे पद पर नहीं हैं। महिला सशक्तिकरण के इस युग में दलित महिला पत्रकार को ढूँढ़ना होगा। बिहार के किसी मीडिया हाउस में दलित महिला पत्रकार नहीं के बराबर है। आँकड़े बताते हैं कि दलित महिला पत्रकारों का प्रतिशत शून्य है, जबकि पिछड़ी-अति पिछड़ी जाति की महिला पत्रकारों का प्रतिशत मात्र एक है। साफ़ है कि दलित-पिछड़े वर्ग के लोग पत्रकारिता में हाशिये पर हैं। हालाँकि सरकारी मीडिया में आकस्मिक तौर पर दलित पत्रकार जुड़े हैं, लेकिन उनका भी प्रतिशत अभी भी सवर्ण जाति से बहुत कम है।

भारतीय परिदृश्य में अपना जाल फैला चुके सैटेलाइट चैनल यानी ख़बरिया चैनलों की स्थिति भी कमोवेश एक ही जैसी है। यहाँ भी कब्ज़ा सवर्ण हिन्दू वर्ग का ही है। नब्बे प्रतिशत पदों पर सवर्ण काबिज़ हैं। हालाँकि हिन्दू पिछड़ी जाति के सात प्रतिशत, अशराफ मुसलमान तीन एवं महिलाएं दस प्रतिशत हैं। यहाँ भी दलित ढूँढ़ते रह जाओगे। इसे देखते हुए इंडियाज न्यूजपेपर रिवोल्यूशन के लेखक और लंबे समय से भारतीय मीडिया पर शोध कर रहे रॉबिन जेफरी ने कहा कि 'भारतीय मीडिया जगत में टेलीवीजन ने भले ही सूचना क्रांति ला दी हो, लेकिन उसके अपने अंदर सामाजिक क्रांति अभी तक नहीं आ पायी है। अब वक़्त आ गया है कि टेलीवीजन के न्यूज़ रूम

अपने अंदर बदलाव लायें और दलितों के लिए अपने दरवाज़े खोल दें। उन्होंने कहा कि भारतीय टेलीवीजन मीडिया को दलितों और अछूतों के लिए अपने न्यूज रूम के दरवाज़े खोल देने चाहिए, क्योंकि वहाँ उनकी संख्या बहुत कम है। 31 मार्च, 2012 को दिल्ली में एडिटर्स गिल्ड द्वारा आयोजित डॉ. राजेन्द्र प्रसाद माथुर व्याख्यान माला में बोलते हुए श्री जाफरी ने कहा कि लंबे समय से दलितों के लिए मुख्यधारा की मीडिया के दरवाज़े बंद हैं। कमोबेश आज भी स्थिति वही बनी हुई है। अपने अनुभव को साझा करते हुए श्री जाफ़री ने कहा कि आज न्यूज रूम (टेलीवीजन) में भी यही स्थिति है। टेलीवीजन न्यूज रूम में संपादकीय स्तर पर दलितों और आदिवासियों की उपस्थिति बढ़नी चाहिए। न्यूज रूम में दलितों की उपस्थिति बढ़ाने के लिए उन्होंने तर्क दिया कि हर साल इस बारे में समीक्षा रिपोर्ट तैयार की जानी चाहिए और धीरे-धीरे न्यूज रूम में दलितों की मौजूदगी बढ़ाने की दिशा में टेलीवीजन को काम करना चाहिए।(देखें– www.visfot.com, 01.04.2012)

दलित आंदोलन पर मीडिया की दृष्टि नहीं होने के पीछे यह भी बड़ा कारण है कि मीडिया पर दलित काबिज़ नहीं हैं। इस पर वरिष्ठ पत्रकार राजकिशोर ने चिंता व्यक्त करते हुए अपने आलेख 'मीडिया और सामाजिक ग़ैर बराबरी' में लिखा है कि जब अल्पसंख्यक, दलित, पिछड़ी जातियाँ और इन वर्गों की महिलाएं बाढ़ के पानी की तरह मीडिया के हॉलों और कैबिनों में प्रवेश करेंगी, सड़क पर जाकर रिपोर्टिंग करेंगी, तब मीडिया के सरोकारों में ज़रूर बदलाव आएगा (**देखें, मीडिया और सामाजिक ग़ैर बराबरी, राष्ट्रीय सहारा, 15.8.2006**)। राजकिशोर जी की यह बात वाजिब है कि मीडिया में जब स्थान मिलेगा, तब दलित पक्षीय सवालों की अनदेखी करना संभव नहीं हो पाएगा। समाज का बड़ा तबका दलित-पिछड़ों का है। इनके आंदोलन को मीडिया तरजीह नहीं देता है। मसला आरक्षण का हो या फिर शोषण-उत्पीड़न का, मीडिया में जगह मात्र सहानुभूति के तहत दी जाती है। कभी भी उसके पीछे के तत्वों को ढूँढ़ने की कोशिश मीडिया नहीं करता है, क्योंकि वह जातीय लबादे से बाहर निकल नहीं पाया है। डॉ. महीप सिंह कहते हैं कि अख़बारों के संपादक और संपादकीय विभाग में ब्राह्मणों का वर्चस्व है या कायस्थों का। दलित या दूसरे पिछड़े वर्गों के लोगों की भागीदारी न के बराबर है। ऐसी स्थिति में वर्गों और जातियों की अपनी मानसिकता सारी पत्रकारिता के तेवर को प्रभावित तो करेगी ही।(**देखें- दलित पत्रकारिता : मूल्यांकन और मुद्दे/रूपचन्द गौतम, पृष्ठ-143**)

देश की एक चौथाई जनसंख्या दलितों की है और सबसे ज्यादा उपेक्षित और पीड़ित शोषित वर्ग हैं। आज़ादी के कई वर्षों बाद भी इनकी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। अत्याचार की घटनाएं बढ़ ही रही हैं। कहने के लिए कानूनी तौर पर कई कानून हैं, फिर भी घटनाएं घट रही हैं और वे घटनाएं मीडिया में उचित स्थान नहीं पा पातीं, क्योंकि मीडिया पूँजीपतियों की गोद में खेल रहा है। गणेश शंकर विद्यार्थी ने अख़बार

‘प्रताप’ में लिखा था कि ‘‘पत्रकारिता को अमीरों की सलाहकार और गरीबों की मददगार होनी चाहिये।’’ लेकिन हालात बदल चुके हैं, आज के पत्रकारों ने इस मूल मंत्र को व्यावसायिकता के पैरों तले रौंद दिया है। मीडिया द्वारा दलित आंदोलन को नज़रअंदाज करने को लेकर इधर तेज़ी से यह बात उठने लगी है कि दलितों को अपनी बात आम-ख़ास जनता तक पहुँचाने के लिए एक अदद समानान्तर मीडिया की ज़रूरत है। अगर ऐसा होता है, तो इस दिशा में एक सकारात्मक पहल होगी और दलित आंदोलन के मुद्दे वास्तव में सामने आ सकेंगे, क्योंकि मीडिया के चरित्र से हर कोई वाक़िफ है। कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

(मीडिया विमर्श, जून 2012 में प्रकाशित)

दलित पत्रकारिता

समाचार पत्रों के प्रकाशन के पीछे सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अभिव्यक्ति को एक मिशन के तहत अंजाम दिया गया। स्वतंत्रता संग्राम में पत्र और पत्रकारिता को सिपाही की भूमिका में देखा गया। एक ओर महात्मा गाँधी, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, पंडित मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना आजाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी आदि थे, जिन्होंने अपनी बात जनता तक पहुँचाने के लिए समाचार पत्रों का सहारा वैचारिक हथियार के तौर पर लिया। इनके पत्र समाचार के लिए कम, विचारों के लिए ज्यादा पढ़े जाते थे। दूसरी ओर अंग्रेजी हुकूमत द्वारा संचालित पत्रों में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के बारे में ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति, इतिहास और परम्परा को भी तोड़-मोड़कर पेश करने से परहेज नहीं किया गया।

शुरुआती दौर में किसी ने अंग्रेजी हुकूमत को खुश करने के लिए पत्र निकाले, तो किसी ने उनके खिलाफ़ मोर्चा लेने के उद्देश्य से। इस जन हथियार को जाति और धर्म के पोशाकों ने भी अपने इस्तेमाल के लिए अपनाया। यह सब कुछ भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखने को मिला। साहित्यिक, भाषाई, जातिगत और धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन का सिलसिला जो शुरू हुआ था, वह आज भी जारी है। पत्रकारिता भी खानों में बँटती गयी। साहित्यिक पत्रकारिता, धार्मिक पत्रकारिता, भाषाई पत्रकारिता और जातिगत पत्रकारिता की जड़ें मज़बूत होने लगीं। सबने अपनी-अपनी जरूरतों के मद्देनज़र पत्रकारिता को हथियार के रूप में प्रयोग किया और वैचारिक सोच को अपने लोगों तक पहुँचाते हुए उन्हें गोलबंद करने का काम किया। आज जब साहित्यिक, धार्मिक, भाषाई और जातिगत पत्रकारिता पर नज़र डालते हैं, तो उनके स्वरूप में वह

धार नहीं दिखता, जिसे लेकर वे सामने आये थे। ज्यादातर ये अपने ही दायरे में सिमट कर रह गये हैं। आम पत्रकारिता की तरह ये आम नहीं हो पाये हैं। कई तो दम तोड़ने के कगार पर खड़े हैं। इसकी सबसे बड़ी वजह आर्थिक है।

ऐसा ही कुछ दलित पत्रकारिता के साथ नज़र आता है, जो भारी तादाद में संबंधित चीज़ें छप तो रही हैं, लेकिन उनका व्यावसायिक तौर पर बाज़ार व पकड़ नहीं दिखती है। इसकी शुरुआत महाराष्ट्र से मराठी भाषा के पत्रों से हुई। महाराष्ट्र के समाज सुधारकों ने दलितों को जागृत करने के ख्याल से पत्र निकाले, जो दलित समाज के थे और दलितों की पीड़ा से परिचित थे, उन्होंने कुछ समाचार पत्र निकाले। इन पत्रों का प्रभाव अखिल भारतीय दलित समाज पर पड़ा। इन समाचार पत्रों द्वारा दलितों की व्यथा, उनके प्रश्न समाज और शासन के सामने खुलकर रखने का काम किया गया। दलितों के समाचार पत्रों से दलितों में वैचारिक क्रांति आने लगी और वे संघर्ष के लिए गोलबंद होने लगे।

हालाँकि, महाराष्ट्र में 19वीं शताब्दी में मराठी समाचार पत्रों पर ब्राह्मण वर्ग का ही कब्ज़ा था। ऐसे में समाचार पत्रों में दलितों के प्रश्नों को ज्यादा तरजीह नहीं दी जाती थी। बहुजन समाज के प्रश्नों, उनकी मूलभूत समस्याओं पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता था। ऐसे में दलित वर्ग के बीच झटपटाहट देखी गयी। पहले-पहल महात्मा ज्योतिराव फुले सामने आये और उन्होंने दलित समाज की पीड़ा को समझते हुए क्रांतिकारी कदम उठाया। फुले ने पुराने विचारों को उखाड़ फेंका और नये क्रांतिकारी विचार स्थापित करने के लिए दलितों को गोलबंद करना शुरू किया। उनका मक़सद साफ़ था, वर्षों से सवर्ण जाति के चंगुल में फंसे दलितों को उनके जाल से बाहर निकालना। धर्म और सामाजिक बंधनों का वास्ता देकर गुलाम बनाये गये दलितों के अंदर झटपटाहट देखी गयी। दलितों को गुलामी से छुटकारा दिलाने के लिए फुले ने लेखन को हथियार बनाया।

फुले के प्रयासों से दलित और बहुजन समाज में शिक्षा का प्रसार होने लगा। महात्मा फुले ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की और ब्राह्मणों के वर्चस्व को समाप्त करने का फैसला किया। वहीं बदलते माहौल में कुछ ब्राह्मणेतर लोगों ने समाचार पत्र शुरू किया। जनवरी 1877 में कृष्णराव मालेकर ने 'दीनबंधु' समाचार पत्र शुरू किया। 1910 में मुकुंदराव पाटिल के संपादकत्व में 'दीनमित्र' छपा, तो वहीं बालचंद कोठारी ने 19 जुलाई 1917 को 'जागरूक' निकाला। 25 अक्टूबर 1917 में श्रीपत राव शिंदे ने 'जागृति', दिसंबर 1919 में 'विजयी मराठा', समाचार पत्र प्रकाशित किया। इन पत्रों ने दलितों पर हो रहे अत्याचारों को उठाया।

इसी बीच कोंकण के महाड़ जिले के रावदक गाँव में एक अछूत (महार) जाति में जन्मे अस्पृश्य समाज के पहले पत्रकार गोपाल बाबा बलंगकर ने बीड़ा उठाया और दलितों के प्रश्न को, खुद दलितों द्वारा ही उठाने की वकालत करते हुए दलितों को

गोलबंद करने का प्रयास किया। गोपाल बाबा बलंगकर ब्रिटिश सेना में नौकरी करते थे। वर्ष 1886 में सेना से निवृत होने के बाद दलितों को मुख्यधारा में लाने के लिए जुट गये। गोपाल बाबा को महात्मा ज्योतिबा फुले का सान्निध्य प्राप्त था। वे अपने लेख 'दीनबंधु', 'सुधारक', 'दीनमित्र', 'शेतकयाचा कैवारी' आदि समाचार पत्रों में लिखते थे। उनके आलेख दलितों की दयनीय स्थिति और उन पर होने वाले अत्याचारों को रेखांकित करते हुए दलितों को अत्यचार के खिलाफ़ आवाज़ बुलंद करने की अपील करते थे। भारत के इस पहले दलित पत्रकार का 1904 में निधन हुआ।

शिवराम जानबा कांबले दलित समाज के पहले संपादक थे। कांबले का जन्म 1875 में पुणे के एक गरीब परिवार (अछूत महार जाति) में हुआ था। उनके पिता अंग्रेजों के यहाँ बटलर का काम करते थे। वे दलितों से सम्बन्धित 'दीनबंधु' जैसे समाचार पत्र नियमित रूप से पढ़ते थे। उन्होंने अछूतों के उद्धार के लिए कार्य करने का फैसला किया। कांबले ने 1904 में 'श्री शंकर प्रसादिक सोमवंशीय हित चिंतक मित्र समाज' नामक संस्था स्थापित की, साथ ही वाचनालय भी खोला। यह भारत में अछूतों को संगठित करने की पहली संस्था थी। वहीं शिवराम जानबा कांबले ने पुणे से मराठी भाषा में 'सोमवंशीय मित्र' समाचार पत्र शुरू किया। इस पत्र के माध्यम से समाज में दलितों को लेकर बनी धारणा को तोड़ने का काम किया और दलितों को समाज में सम्मान दिलाने के लिए लेखन के सहारे प्रयासरत रहे। अछूत समाज में देवदासी बनने की प्रथा को समाप्त करने के लिए कांबले समाचार पत्र में इस प्रथा की बुराई पर लेख लिखते थे। दलित लोगों को उपदेश देते और आग्रह करते थे कि वे अपनी लड़कियों को देवदासी, जोगतीन, मुरली न बनाएं। अस्पृश्य समाज की अनपढ़ गरीब जनता के लिए समाचार पत्र निकालना आसान काम नहीं था। उस वक़्त इस पत्र का दाम सिर्फ़ एक आना था, लेकिन आर्थिक कठिनाई के कारण यह अल्प समय तक ही चल पाया। इसका अंतिम अंक 1 जून, 1910 में प्रकाशित हुआ था। इस समाचार पत्र के कुल चौबीस अंक निकले थे।

गोपाल बाबा वलंगकर और शिवराम जानवा कांबले की तरह विदर्भ के किसन भागूजी वंससोडे ने भी समाचार पत्र निकालने का काम किया। उनका जन्म नागपुर के मोहपा गाँव में 18 फरवरी ,1879 में हुआ था। अपने विचार अछूतों तक पहुँचाने के लिए उन्होंने अपना निजी छापाखाना खड़ा किया और 1910 में 'निराश्रित हिन्द नागरिक', 1913 में 'विटाल विध्वंसक', 1918 में 'मजूर पत्रिका' नामक समाचार पत्र निकाले। ये समाचार पत्र भी आर्थिक कठिनाई के कारण ज्यादा दिन तक नहीं चल सके। शुरुआती दौर में जो भी दलित समाचार पत्र छपे, सभी सामाजिक प्रश्नों को उठाते रहे। इन पत्रों ने दलितों पर होने वाले अन्याय, अत्याचारों को आवाज़ प्रदान किया और दलितों के बीच एक सार्थक सोच विकसित हुई। दलित पत्रकारिता की शुरुआत दिल्ली में 1959 में सोहन लाल शास्त्री के प्रयास से 'उत्थान' मासिक

पत्रिका से हुई। पत्रिका का मुख्य उद्देश्य बाबा साहेब डॉ. भीम राव अम्बेडकर के विचारों को जनता तक पहुँचाना था। उस समय पाठक कम थे और श्रोता अधिक, क्योंकि दलित शिक्षा का सूचकांक बहुत नीचा था। कबीर पंथी साधु बौद्ध भिक्षु बनने लगे थे। ये ही लोग घर-घर जाकर बुद्ध व बाबा साहेब का संदेश पहुँचाते थे।

सोहनपाल सुमनाक्षर के माध्यम से भारतीय दलित साहित्य अकादमी की स्थापना की गयी। अकादमी से 'हिमायती' नामक पाक्षिक पत्र की शुरुआत 14 अप्रैल, 1962 को हुई। पत्र में बाबू जी व सुमनाक्षर के विचार अधिक होते थे। पहाड़गंज से विमला चौधरी ने 15 सितम्बर 1968 को 'बुद्ध घोष' साप्ताहिक पत्र निकाला। इस पत्र को केदार नाथ चौधरी देखते थे। एन.एस.बनाफल के सम्पादन में 'भीम संदेश' का प्रवेशांक 14 अप्रैल, 1969 को आया। जुल्म के खिलाफ़ आवाज़ उठाना पत्रिका का एकमात्र उद्देश्य था। 1970 में एडवोकेट भगवान दास ने 'समता सैनिक' समाचार पत्र निकाला।

70 के दशक में भारतीय बौद्ध महासभा के द्वारा 'धम्म दर्पण' त्रैमासिक पत्रिका की शुरुआत हुई। पंडित टी.आर.आनन्द को इसका सम्पादक बनाया गया। इसी दशक में शाहदरा के बिहारी लाल हरित ने 'जय भीम' का नारा दिया। सांसद एन.एच.कुम्भारे ने जनवरी,1973 को 'सम्यक समाज' पत्र निकाला। 14 अप्रैल, 1975 को सतीश चन्द्र ने 'दलित' समाचार पत्र निकाला। 1977 को बाबू राव पाखिडे ने 'युग उत्पीड़न' नामक मासिक की शुरुआत करके दलित समाज को जागरूक किया। जैसे-जैसे दलितों की शिक्षा दिल्ली में बढ़ रही थी, वैसे-वैसे दूर-दराज के लोग अपने को आम्बेडकर मिशन का सिपाही समझने लगे थे। अक्टूबर, 1978 में के.एस. गौतम ने 'काला भारत' समाचार पत्र निकाला। भिक्षु प्रज्ञारत्न के सम्पादन में भिक्षु संघ की मासिक पत्रिका 'संघ प्रकाश' अम्बेडकर नगर से प्रकाशित हुई। हालाँकि, यह ज्यादा दिन तक नहीं चल पायी।

बामसेफ के द्वितीय राष्ट्रीय सम्मेलन के अवसर पर कांशीराम ने दैनिक समाचार पत्र 'बहुजन संगठक' का विमोचन किया। बाद में यही पत्र साप्ताहिक के रूप में आने लगा। इसमें दलित राजनीति और चेतना को खासतौर से स्थान दिया जाता था। दलित साहित्यकार-पत्रकार मोहनदास नैमिशराय सम्पादकीय लिखने के साथ-साथ अन्य कार्य भी देखते थे। वैसे वे 'बहुजन संगठक' के कार्यकारी संपादक भी थे। राम खोब्रागड़े अंग्रेजी पत्रिका 'द आप्रेस्ड इण्डियन' में लिखते थे। आठवें पृष्ठ पर बामसेफ के आगामी कार्यक्रमों की तिथिवार सूचना होती थी। कभी-कभी कहानी-कविता भी इसमें छपती थी। हालाँकि संपादक कांशीराम ही थे, लेकिन सारी ज़िम्मेदारी नैमिशराय ही निभाते थे। बाद में मोहनदास नैमिशराय व राम खोब्रागड़े अलग हो गये। पत्र की जिम्मेदारी आर.पी. मेहरा पर आ पड़ी। तब से ये अपनी ज़िम्मेदारी बखूबी निभा रहे हैं। यह दलित समाज का एक प्रमुख अख़बार बन गया था।

मोहनदास नैमिशराय ने मेरठ में 'बहुजन अधिकार' पाक्षिक समाचार पत्र निकाला। पहला अंक अक्टूबर, 1981 को छपा। बाद में इसका कार्यालय नई दिल्ली आ गया। पत्र में वैचारिक लेख, कहानी, कविता आदि होती थी। पत्र में दलित समाज की ख़बरों के अलावा कभी-कभी सामान्य ख़बरें भी छपती थीं। 22 फरवरी, 1984 को जितेन्द्र कुमार के संपादन में 'बहुजन संघर्ष' साप्ताहिक समाचार पत्र नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। पत्र की शक्ल-सूरत एकदम बहुजन संगठक जैसी थी। इसमें दलित समाज के नये लेखकों, कवियों, कहानीकारों को स्थान दिया गया। पत्र सामाजिक-वैचारिक क्रांति का कम समय में अग्रदूत बन गया। मार्च, 1984 में 'वायस आफ दी वीक' हिन्दी-अंग्रेजी में के.आर. सुन्डा के संपादन में निकला। तीनों समाचार पत्रों ने दलित समाज को जागरूक करने का काम किया। तेजेन्द्र सिंह झल्ली से अलग होकर बामसेफ के बैनर तले वामन मेश्राम ने बहुजनों का 'बहुजन भारत' पाक्षिक पत्र निकाला। 14 अप्रैल, 1988 को रणजीत सिंह ने 'दलित पतवार' मासिक पत्रिका निकाली। डॉ. मुनीर स्वामी ने मार्च, 1989 में 'अम्बेडकर मेडिकल' बुलेटिन निकाला। भारतीय सामाजिक संस्थान के माध्यम से प्रेम कपाडिया ने जनवरी 1990 को 'हम दलित' मासिक पत्रिका निकाली। इनके बाद तेज सिंह वरूण ने 'क्रिएटिव न्यूज' और कृष्ण मुरारी जाटव ने 'दिल्ली घोषणा' नामक मासिक पत्र निकाला। इसके बाद डॉ. आम्बेडकर टाइम्स भी निकाला। इन्द्र सिंह धिंगान ने 'सर्वहारा बुलेटिन' साप्ताहिक समाचार पत्र जहांगीरपुरी से निकाला और डॉ. होरी लाल के संपादन में 'डॉ. आम्बेडकर न्यूज बुलेटिन' निकला, जबकि गुरूचरन के संपादन में 'न्याय चक्र' मासिक पत्रिका की शुरुआत 1990 में की गयी। वहीं हिमांशु राय ने अप्रैल, 1995 में 'अर्थपूर्ण' मासिक पत्रिका प्रकाशित की, लेकिन यह ज्यादा दिन तक नहीं निकल पायी और जल्द ही पत्रिका बन्द हो गयी। राम खोब्रागडे ने अक्टूबर, 1995 में 'सजग प्रहरी' मासिक पत्रिका प्रकाशित की। पत्रिका पर दलित राजनीतिक व सामाजिक प्रभाव था। आरक्षण का मुद्दा लेकर रामराज उर्फ़ उदित राज ने अक्टूबर 1996 को 'वायस आफ दी बुद्धा' पाक्षिक पत्र निकाला। बहरहाल, देश भर में कई पत्र-पत्रिकाएं दलित पत्रकारिता को एक ख़ास दिशा देने में प्रयत्नशील हैं। इनमें 'भीम पत्रिका', 'दलित टुडे', 'मूकनायक', 'बेधड़क न्यूज', 'अम्बेडकर इन इंडिया', 'नागफनी', 'बयान', 'दलित दस्तक', 'वंचित जनता', 'आधुनिक विप्लव', 'दलित अस्मिता', 'भीम लहर', 'सम्यक भारत', 'अम्बेडकर मिशन' सहित ढेरों पत्र-पत्रिकाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। देश भर से दलित पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है, लेकिन जो व्यवासायिक नजरिया होनी चाहिए, वह नहीं है, जिसकी आज जरूरत महसूस की जा रही है। व्यावसायिक नज़रिये का तात्पर्य है,बाजार में आकर अपने लोगों के साथ-साथ समाज के अन्य लोगों को गोलबंद करें, अपनी बातों से अवगत करायें। दलित मुद्दों के प्रति गम्भीरता पैदा करें। **(बयान में प्रकाशित)**

दलित पत्रकारिता की दिशा

''**आज** जितने भी समाचार पत्र मौजूद हैं, वे हिन्दू जाति के हितों की रक्षा करने में लगे हुए हैं। वे अन्य जातियों के हितों का संरक्षण नहीं करते हैं। हमारा देश विषमताओं का मायका है। सत्ता और ज्ञान के अभाव में अब्राह्मण तथा दलित वर्ग प्रगति से वंचित है।''—डॉ. भीमराव आम्बेडकर (**21 जनवरी 1920 के साप्ताहिक 'मूकनायक' के प्रथम अंक के संपादकीय में प्रकाशित**)

डॉ. भीमराव आम्बेडकर के विचार आज भी प्रासंगिक हैं। देश में सवर्ण पत्रकारिता या यों कहें कि हिन्दू पत्रकारिता की दिशा व दशा दोनों तो दिखती है, लेकिन दलित पत्रकारिता की नहीं? दलित पत्रकारिता की दशा और दिशा को लेकर सवाल उठते रहते हैं। इन दिनों दलित पत्रकारिता को लेकर काफी विमर्श सुनने को मिलता है। हिन्दूवादी पत्रकारिता ने जो पकड़ बनायी है, उसके समांनातर दलित पत्रकारिता नहीं के बराबर है। ऐसा नहीं कि दलित पत्रों का प्रकाशन नहीं होता। बड़े पैमाने पर दलित पत्र और पत्रिकाओं का प्रकाशन देश भर में हो रहा है, लेकिन उनमें एकाध नाम भी नहीं मिलते, जो राष्ट्रीय पटल पर छपने वाले सवर्ण पत्र-पत्रिकाओं के समानान्तर खड़े हों।

महाराष्ट्र की दलित पत्रकारिता को छोड़ दें, तो दलित पत्रकारिता में हिन्दी पत्रकारिता कोई ख़ास मुक़ाम नहीं तय कर पायी है। हालाँकि, हिन्दूवादी पत्रकारिता में दलित पत्रकारिता भी दिखती है। इसके पीछे बाज़ारवाद एक बहुत बड़ा कारण है। ज्योतिबा फूले, बाबा साहेब आम्बेडकर सहित अन्य दलित नेताओं के जयंती समारोह को ख़बरों में पिरोकर जगह तो मिल जाती है। यह एक बहुत बड़ा भ्रम है, जो दलित पत्रकारिता के सामने आकर खड़ा हो जाता है कि दलित समुदाय की बात हिन्दूवादी मीडिया ने सहज ढंग से उठायी। हालाँकि, दलितों की चीज़ छापकर हिन्दूवादी मीडिया उसे दलित पत्रकारिता की श्रेणी में डालकर अपनी वाहवाही तो ले लेता है, लेकिन ये दलित

मीडिया को स्थापित नहीं करती। राष्ट्रीय पटल पर भले ही यह बात दलित समुदाय के बीच हिन्दूवादी पत्रकारिता के माध्यम से पहुँचती हो, लेकिन वह तेवर नहीं झलकता। जिन मुद्दों को लेकर ज्योतिबा फूले, आम्बेडकर सहित अन्य दलित बुद्धिजीवियों ने दलित समाज को मुख्य धारा से जोड़ने का बीड़ा उठाया था, वह जयंती समारोहों के अवसर पर ही क्यों दिखता है? दोष केवल हिन्दूवादी पत्रकारिता के ऊपर नहीं मढ़ा जा सकता। इसने तो दलितों की ख़बर को बाज़ार की तरह इस्तेमाल किया, लेकिन वहीं पर दलित पत्रकारिता से जुड़ी सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएं हैं, जो हिन्दूवादी पत्र-पत्रिकाओं के समक्ष अभी तक खड़ी नहीं हो पायी हैं। दलित पत्रकारिता में वह व्यावसायिक नज़रिया नहीं दिखता। दलित पत्रकारिता से जुड़े विशेषज्ञ मानते हैं कि ढेरों दलित पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है, लेकिन उनके आंकलन से बात चौंकाती है कि वे पत्रकारिता के मापदंडों के अनुरूप खरे नहीं उतरते। इनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इनके संपादक वह सोच विकसित नहीं कर पाये हैं, जो व्यावसायिक रूप से पत्रकारिता में होने चाहिए। मसलन कोई पाठक पत्र लिखता है, तो कुछ संपादक हू-ब-हू उसे बिना संपादन के छाप देते हैं। अगर कोई पाठक यह लिखता है कि मैं पत्र-पत्रिका का वार्षिक ग्राहक बनना चाहता हूँ और इसके लिये पैसे भेज रहा हूँ, तो कुछ संपादक इसे भी हू-ब-हू छाप देते हैं। पत्र को संपादित करने की जहमत तक नहीं उठाते हैं। जबकि पत्रकारिता के दृष्टिकोण से किसी भी पत्र-पत्रिका में छपने वाले पाठकों के पत्रों की अपनी अहमियत होती है। पाठक पत्र के माध्यम से अपने विचार लोगों तक पहुँचाता है, एक वैचारिक सोच की गोलबंदी करता है।

दलित पत्र-पत्रिकाएं छपती तो हैं, लेकिन उनके खरीदारों में आम लोगों की बात तो दूर, दलित समुदाय द्वारा भी नहीं खरीदे जाने का आरोप-प्रत्यारोप पत्र-पत्रिकाओं के संपादक-मालिक लगाते रहते हैं। कई दलित पत्र-पत्रिकाएं छप रही हैं, उसके संपादक ही मालिक होते हैं और अपने को स्थापित करने के लिए उसका प्रकाशन करते हैं, उनकी दूर-दृष्टि संकुचित दिखती है। वे वही करते हैं, जिससे वे स्थापित रह सकें। मीडिया के बाज़ार में खड़े रहने के लिए हिन्दूवादी मीडिया के समानांतर अपने को खड़ा रखने के लिए गोलबंदी नहीं करते। उनकी शिकायत रहती है कि अपने समुदाय के लोग भी उसे नहीं ख़रीदते हैं। सवाल है कि पाठक भले ही दलित समुदाय के हों, जब बाज़ार खुला है तो, जो आकर्षित करेगा उसे पाठक खरीदेगा, का फ़ार्मूला लागू हो जाता है। यह हर विधा की पत्र-पत्रिका के साथ है।

दलित पत्र-पत्रिकाओं के लोकप्रिय नहीं होने के पीछे पत्रकारिता के मापदंडों को ही सामने रखना पड़ता है। हालाँकि, इसके पीछे दलित पत्र-पत्रिकाओं की दिशाहीनता का आरोप भी लगता है कि दलित पत्र-पत्रिकाओं में व्यावसायिक नज़रिया नहीं होता। सबसे पहले, हिन्दूवादी पत्रकारिता के समक्ष दलित पत्रकारिता को खड़ा होने के लिए व्यावसायिक नजरिया होना बहुत ज़रूरी है और वह नज़रिया ख़बर के आगे-पीछे तो

होनी ही चाहिए। साथ ही पत्र-पत्रिका लोगों तक पहुँचे, इसके लिए भी एक नज़रिया विकसित करना होगा और इसे विकसित करने के लिए व्यापक पैमाने पर व्यावसायिक दृष्टिकोण अपनाते हुए समाज के सामने आना होगा और अपनी बातों को रखने के लिए हर चुनौतियों को स्वीकारना होगा। दलित चेतना की पत्र-पत्रिकाओं के स्वामी संपादक अपनी पत्रकारिता के दृष्टिकोण की विफलता के लिए पाठकों पर आरोप लगाने से परहेज नहीं करते। हालाँकि, सबसे पहले उन्हें अपनी दिशाहीनता को ही दूर करना होगा। ऐसा नहीं है कि हिन्दूवादी राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाएं दलितों की ख़बरों को या फिर ज्योतिबा फूले, बाबा साहेब अम्बेडकर सहित नेताओं के विचारों को प्रकाशित नहीं करते। ये जयंती हो या फिर कोई आयोजन दलित मुद्दों को व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाएं ज़रूर उठाती हैं और वह व्यापक दायरे वाले पाठकों के बीच पहुँच जाती हैं, जबकि दलित पत्र-पत्रिकाएं दलित मुद्दों से जुड़ी ख़बरों तक पहुँच पाने में देरी कर जाती हैं। दलित पाठक वर्ग चाहता है कि वह दलितों की ख़बरों के साथ-साथ देश-प्रदेश की घटने वाली तमाम ख़बरों से रू-ब-रू हो, लेकिन दलित मीडिया इसे पूरा करने में असफल रहता है।

दलित पत्रकारिता की दिशा पर 'दलित दस्तक' के संपादक अशोक दास कहते हैं, इसका मूल्यांकन करें तो यह बाबा साहेब की बात करने से आगे नहीं बढ़ पाया है, जो लोग चला रहे हैं वह असल में या तो साहित्यकार हैं या फिर लेखक। पत्रकार न के बराबर हैं। पत्रकार के नाम पर कुछेक लोग हैं, तो उनकी प्रॉपर ट्रेनिंग नहीं हुई है। वो ख़बरों को व्यावसायिकता के चोले में लपेट कर परोसना नहीं जानते। दलित समाज के साथ हो रहे छल को सामने लाने की जरूरत है। खोजी रिपोर्ट पेश करने की जरूरत है। मीडिया को हम आंदोलन की तरह लेंगे, तो यह नहीं चलेगा। इसे व्यावसायिक तौर पर आगे बढ़ना होगा, अपनी नैतिक ज़िम्मेदारियों को समझते हुए। यह भी कहा जा सकता है कि व्यावसायिकता, समाज की नैतिक ज़िम्मेदारी और आंदोलन का मिश्रण होना चहिए।

देखा जाये तो आज दलित पत्रकारिता उसी रूप में विद्यमान है, जैसे मानों अनेकों दिये जल रहे हों, लेकिन किसी दिये में आधा तेल है, तो किसी में केवल बाती में ही तेल रह गया है और किसी दिये में बाती भी जलकर बुझने वाली है। वास्तव में 'बहुजनों का तलुआचाटू' और 'धोखेबाज संस्कृति' से ग्रसित होने के कारण ही समाज की यह दुर्दशा है, फिर भी छोटे-छोटे दलित पत्र-पत्रिकाओं ने बहुजन आंदोलन को बढ़ाने का बहुत ही बड़ा और युगांतकारी काम किया है। बहुत-सी ऐसी पत्र-पत्रिकाएं हैं, जिनका कोई व्यावसायिक नज़रिया या पत्रकारिता की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है, फिर भी वहीं पर दलित विमर्श की कोई बात सामने आने पर उनकी ओर तुरंत ही उंगली उठ जाती है। उसका व्यवसायिक पक्ष ढूँढ़ा जाता है, पत्रकारिता के मापदण्ड भी उसके लिए स्थापित किये जाने लगते हैं। **(बयान में प्रकाशित)**

दलितों का हो अपना मीडिया

दलितों की कोई नयी माँग नहीं है कि उनका अपना मीडिया हो। हिन्दूवादी मीडिया में दलितों का अपनी कोई व्यापक पैठ नहीं है। वहीं कहने के लिए तो सैकड़ों दलित पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं, जो दलितों द्वारा संचालित हो रही हैं। पत्र और पत्रिकाओं के मालिक, संपादक, सभी दलित हैं, लेकिन आज दलित मीडिया राष्ट्रीय पटल पर स्थापित होने की छटपटाहट में है। यह छटपटाहट हाल-फिलहाल की नहीं है।

दलितों के ऊपर उत्पीड़न, शोषण और उनकी ख़बरों को हिन्दूवादी मीडिया द्वारा अपने तरीके से परोसे जाने को लेकर दलितों के बीच प्रतिरोध है। शुरू से ही भारतीय हिन्दू मीडिया दलितों की ख़बरों को अपने तरीके से संजोती, परोसती और दिखाती रही है। हमेशा से दलित-पिछड़े हिन्दूवादी मीडिया के बीच उपेक्षित रहे हैं। कुछ ख़बरों को दिखा देने पर यह कतई नहीं माना जा सकता कि हिन्दूवादी मीडिया के दिलो-दिमाग पर दलितों को लेकर कुछ जज़्बा है, अगर ख़बरें आ भी जाती हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कोई एहसान कर रहे हों। और यह कोई हाल-फिलहाल की बात नहीं है। 1873 में छपी एक किताब में ज्योतिराव फुले के कथन को देखें, स्थितियाँ ज्यों की त्यों है। ज्योतिराव फुले- ''अरे सभी मराठी अख़बारों के संपादक ब्राह्मण है, इसलिए अपनी जाति के लोगों के विरुद्ध लिखने के लिए उनका हाथ नहीं चलता।''

(**स्त्रोत : गुलामगीरी, लेखक : ज्योतिबा फुले, मराठी से हिंदी अनुवाद : डॉ. विमलकीर्ति, सम्यक प्रकाशन, 2009, पेज- 85**) पहली बार यह किताब 1873 में छपी। सालों बाद भी भारतीय मीडिया में दलित मुद्दे ठहराव की स्थिति में हैं। वक़्त अभी भी ठहरा हुआ है। बाबा साहब आम्बेडकर ने भी इस ठहरे समय को हटाने का प्रयास किया। दलित मुद्दों

के विशेषज्ञ मानते हैं कि दलितों को हिन्दूवादी मीडिया से शिकायत नहीं करनी चाहिये कि वे उनकी बातों को मीडिया में नहीं रखते हैं, बल्कि दलितों को सोचना चाहिये कि उनका अपना खुद का मीडिया हो। खुद अपना मंच तैयार करें और अपनी बातों को समाज-देश-व्यवस्था के समक्ष रखें। दलितों को अपनी हर बात को रखने के लिए अपने अख़बार/पत्रिकाएं/टीवी चैनल/अंतरजाल पत्रिका हो। मीडिया के हर माध्यम हो, शर्त हो कि वह अपना हो, किसी के भरोसे का नहीं।

हालाँकि, दलितों का अपना मीडिया हो, इस दिशा में दिल्ली, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश सहित अन्य राज्यों से प्रकाशित दलित पत्र और पत्रिकाओं को राष्ट्रीय फलक पर लाते हुए अपना मीडिया बनाने का प्रयास जारी है। इस दिशा में कई पत्र और पत्रिकाएं अपनी पहचान बनाने की दिशा में हैं। दिल्ली से साहित्य, संस्कृति तथा सामाजिक सरोकारों को लेकर निकल रहे हिन्दी मासिक 'बयान' को इसके संपादक मोहनदास नैमिशराय ने राष्ट्रीय पटल पर लाया है। वहीं अशोक कुमार अंतरजाल की पत्रिका 'दलित मत' के माध्यम से दलित मुद्दों की बात करते हुए सक्रिय हैं, वहीं पिछले कुछ समय से पटल पर उभरी 'बहुरि नहीं आवना' प्रख्यात दलित साहित्यकार श्यौराज सिंह 'बेचैन' के संपादन में दलितों के बीच में नयी बहस छेड़ते हुए एक आयाम बनाने की दिशा में अग्रसर है।

लंबे समय से अपना, 'दलित मीडिया' को लेकर चर्चा है कि दलितों का अपना मीडिया होना ही चाहिए, जो दलितों के हक़ के लिए पूरे जज़्बे के साथ, पूरी ईमानदारी के साथ, पूरी निष्ठा के साथ बातों को जोरदार ढंग से राष्ट्रीय पटल रखे। दलितों का अपना मीडिया हो, इसे लेकर दलितों के महानायक मान्यवर श्री कांशी राम ने अपनी बात जोरदार ढंग से उठायी थी और नागपुर से प्रकाशित 'बहुजन नायक' मराठी साप्ताहिक के बाइसवें स्थापना दिवस के अवसर पर 30 मार्च, 2002 को एक भव्य समारोह में जनसमूह को संबोधित करते हुए 'महानायक' के संपादक मान्यवर श्री कांशीराम ने दलितों का अपना मीडिया हो, इसकी पूरजोर वकालत की थी। (**स्रोत : 'मीडिया और दलित' संपादक : डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' व एस.एस.गौतम, पृष्ठ संख्या- 75**)

मान्यवर श्री कांशीराम जी ने अपने सम्बोधन में कहा था कि 'बहुजन नायक' को चलते हुए पूरे बाईस साल हो गये हैं, जिसके बारे में आप सब लोगों को जानकारी है। आप लोगों के सहयोग से बाईस साल यह पेपर चला है। इस पेपर को चलाने वाले लोग, इस पेपर में विचार रखने वाले लोग, इस पेपर को पढ़ने वाले लोग, इस पेपर को बगैर किसी विज्ञापन के चलाने वाले लोग, इन सबके सहयोग से ये काम आज तक हुआ है, इसलिए मैं इसकी सराहन करता हूँ। जिस दिन यह पेपर शुरू हुआ था, मैं नागपुर में कई दिन-कई रात के लिए दिल्ली से चलकर आया था। किस क़िस्म की हमें मेहनत करनी पड़ी थी, उसकी ज़िक्र श्री भालेराव ने कुछ इधर किया है और उस वक़्त के हमारे साथी अच्छी तरह से जानते हैं। उस दिन से लेकर आज तक जो हम

लोगों ने मेहनत की है, उसके बारे में भी बहुत कुछ कहा जा चुका है, लेकिन समय अभाव के कारण मैं उसकी ज्यादा चर्चा नहीं करूँगा। मैं इतना जानता हूँ कि मुझे हिंदी भाषा भी अच्छी नहीं आती है, पढ़ने और लिखने के लिए मराठी का तो सवाल ही पैदा नहीं होता, इसलिए मैं इंग्लिश भाषा में ही आज तक सोचता रहा हूँ, सोच बनाकर उसको आगे बढ़ाने का प्रबंध करता हूँ और मैं लिखता रहा हूँ, जब हमारे पास साधन नहीं होते थे, थोड़े-थोड़े साधन इकट्ठे करके मैं बुलेटिन निकाला करता था। पहले उन्नीस बुलेटिन, जो मैंने निकाले हैं, उनमें क्या लिखा हुआ था, वो आज हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं, उसके बाद के कुछ बुलेटिन आज हम लोगों ने सुरक्षित किये हैं। उसके बाद एक पाक्षिक भी मैंने शुरू किया 'आप्रेस्ड इंडियन' नाम का 'स्पोक्समैन ऑफ दी आप्रेस्ड एण्ड एक्सप्लायटेड', 'दलित-शोषित समाज का मुखपत्र'।

मैं इसे काफी लंबे अरसे तक खुद एडिट (संपादन) करता रहा हूँ, खुद उसके लिए सारा प्रबंध करता रहा हूँ और उसको इस्तेमाल करके मूवमेंट को आगे बढ़ाता रहा हूँ। उसी वक़्त से मैं सोचता रहा हूँ कि इंग्लिश जानने वाले लोग बाबा साहेब आम्बेडकर की मेहरबानी से एक नई क्लास (वर्ग) इस देश में पैदा हुई है। पढ़-लिखकर नौजवान साथी, कुछ आम्बेडकर से प्रभावित हुए हैं, जैसे मैं प्रभावित हुआ। मुझे लगा कि अगर मैंने प्रभावित होकर अपने आपको इस काम के लिए डेडिकेट (समर्पित) किया है, तो समाज में दूसरे लोग भी जरूर मिलेंगे, जो मेरे जितना नहीं, तो कुछ न कुछ योगदान देने के लिए जरूर मिल सकेंगे। इस बात को सोचकर पढ़े-लिखे कर्मचारियों को ढूँढ़कर अपनी बात कहकर, उनकी बात सुनकर, उनको बाबा साहेब आम्बेडकर की मूवमेंट पर चलाने के लिए प्रभावित करने का काम मैंने शुरू किया। 'बामसेफ' नाम का एक संगठन बनाया 'बामसेफ' के नाम पर एक छोटी-सी किताब लिखकर उसका उद्देश्य क्या है, उस उद्देश्य को हम कैसे पूरा कर सकते हैं, यह बताया। पढ़े-लिखे कर्मचारी, जिनके बारे में बाबा साहेब डॉ. आम्बेडकर ने 18 मार्च, 1956 को आगरा में कहा था कि इन्होंने (पढ़े-लिखे कर्मचारियों ने) मुझे धोखा दिया है, ऐसे धोखा देने वाले समाज के अंग को, समाज के हित में संगठित करने का काम मैंने शुरू किया। 'बामसेफ' का जन्म होने के बाद समाज में पढ़े-लिखे कर्मचारी बहुत कुछ कर सकते हैं, अतः उनके लिए मैंने स्क्वैड्स बनायी। मुझे मालूम है कि मैंने बीस स्क्वाड्र्स बनाये– बामसेफ ब्रदरहुड, बामसेफ अडॉप्शन, बामसेफ को-ऑपरेशन इत्यादि। इस क़िस्म के बीस स्क्वाड्र्स बनाकर मैंने पढ़े-लिखे कर्मचारियों को संगठित करके फूले-शाह-अम्बेडकर की विचारधारा को आगे बढ़ाने काम शुरू किया। ये जानते हुए भी कि पढ़े-लिखे कर्मचारियों के लिए लिमिट (मर्यादा) है, सिविल सर्विस कंडक्ट रूल की लिमिट है, ये लोग समाज को अपने पैरों पर खड़ा कर सकते हैं, समाज के मूवमेंट को आगे बढ़ा सकते हैं, लेकिन वो भी सिविल सर्विस कंडक्ट रूल को ध्यान में रखकर। इसलिए मैंने सारी योजना बनायी, सारा प्रोग्राम बनाया, लेकिन उसकी

लिमिटेशन को ध्यान में रखकर। बाद में डी. एस.-4 (दलित शोषित समाज संघर्ष समिति) बनायी। बगैर संघर्ष के मूवमेंट आगे नहीं बढ़ सकता। दलित शोषित समाज का संघर्ष अपने पैरों पर खड़ा होकर अपने समाज की बात को आगे बढ़ाने का प्रबंध डी. एस.-4 के माध्यम से शुरू किया। इस सारे समय में सोच-विचार करके कि बाबा साहेब आम्बेडकर की मूवमेंट आगे क्यों नहीं बढ़ सकी, उससे सबक सीखकर मैंने एक सेमिनार, दस सिवोजियम, आप्रेस्ड इंडियन में एक लेख लिखकर, उसके बारे में चर्चा शुरू की। लोगों के दिमाग में उथल-पुथल हो सके, वह सोचने के लिए समाज मज़बूर हो, मैंने वो आर्टिकल (लेख) लिखा था, क्योंकि आम्बेडकरवाद को हमें रिवाइव (पुर्नजीवित) करना है, जो उस वक़्त तक लगभग ख़त्म हो चुका था। अगर उसको रिवाइव करना है, तो जिन लोगों ने उसको रिवाइव करना है, उनकी ज़िम्मेदारी है कि उसको सरवाइव (टिका कर रखना) भी करें, लंबे अरसे तक चलाने का प्रबंध भी करें। क्या ये हो सकता है? ऐसा लोगों के सामने मैंने विचार रखा। इस प्रकार मैंने मीडिया की ज़रूरत को समझा। चाहे बुलेटिन के माध्यम से हो, 'ऑप्रेस्ड इंडियन' के माध्यम से हो, जो हमारे समाज के पढ़े-लिखे कर्मचारियों का एक क्लास (वर्ग) पैदा हुआ था, उनके लिए एक साधन पैदा किया। लेकिन मुझे यह मालूम था कि ये साधन तो पढ़े-लिखे नौजवान कर्मचारियों के लिए तो ठीक है। वे इंग्लिश भाषा में इसे पढ़कर, सीखकर कुछ समझ सकते हैं, लेकिन हमारा समाज तो ज्यादा इंग्लिश नहीं जानता है। बहुत बड़े हिस्से में हिंदी जनता है। बहुत से प्रदेशों में, जिसमें सिर्फ लोकल (भाषा) जानते हैं, इसलिए इन सब भाषाओं में हमें अपना मीडिया बनाना चाहिए। अपने मीडिया का प्रबंध करना चाहिए। उसके लिए मैंने बहुत पहले शुरुआत की। बहुत-सी भाषाओं में शुरुआत की। हिंदी का 'बहुजन संगठन' सबसे पहले शुरू किया। वो आज तक चल रहा है। बाईस साल से ज्यादा समय हुआ, अभी तक चल रहा है। बाईस साल पहले 'बहुजन नायक' शुरू किया। खुशी की बात है कि वो भी आज तक चल रहा है, लेकिन मुझे इस बात का ज्ञान था कि हमें डेली न्यूज पेपर (दैनिक पत्र) की जरूरत है। मूवमेंट को आगे बढ़ाने के लिए एक इंग्लिश और हिंदी में दिल्ली से पढ़े-लिखे कर्मचारियों को सगंठित करके मैंने इंग्लिश और हिंदी में दैनिक पेपर की कोशिश शुरू की और नागपुर से मराठी पेपर की, लेकिन हम उस कोशिश में कामयाब नहीं हो सके। लेकिन जो शुरू कर सके, उसे हम सरवाइव नहीं कर सके।

मान्यवर श्री कांशीराम जी के सम्बोधन से साफ़ है कि उन्होंने दलितों के लिए अपना मीडिया हो, इसे लेकर वे चिंतित रहे। ऐसा नहीं कि यह चिंतन केवल मान्यवर श्री कांशीराम जी का है, बल्कि इस दिशा में 'बयान' के संपादक व चर्चित लेखक-पत्रकार श्री मोहनदास नैमिशराय जी ने पहल करते हुए 'बयान' को राष्ट्रीय पटल पर लाया है। साथ ही बहुजनों का अपना मीडिया हो, इसे स्थापित करने की दिशा में काम जारी है, लेकिन यह काम अभी भी नहीं के बराबर में है। एक भी पत्र-पत्रिका-चैनल-

अंतरजाल नज़र नहीं आता, जो राष्ट्रीय पटल पर स्थान बनाते हुए दलितों के अपने, सिर्फ़ अपने मीडिया की वकालत करता दिख रहा हो। इस दिशा में दलित चिंतकों, पूंजीपतियों और मध्यवर्ग को आगे आना होगा और दलितों के अपने मीडिया को स्थापित कर, एक अपनी आवाज़ को बुलंद करना होगा। हालाँकि, देखा जाता है कि कई दलित पत्र-पत्रिकाओं को अपनी पत्नियों के नाम से कुछ लोग निकालते हैं। ऐसे में पत्र-पत्रिकाएं तो निकल जाती है, लेकिन वह स्वरूप नहीं मिल पाता, जो मिलना चाहिये। बस भड़ास या फिर कहने के लिए दलित हित के लिए पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशन करते हैं। दलित पत्र-पत्रिकाएं निकलती तो हैं, लेकिन एक-दो या कुछ अंक के निकलने के बाद बंद हो जाते हैं। दलितों का अपना मीडिया हो, को लेकर मान्यवर श्री कांशीराम हों या श्री मोहनदास नैमिशराय या फिर डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', सभी ने हिन्दूवादी भारतीय मीडिया के चरित्र को समझ कर ही अपने अलग मीडिया की वकालत करते हुए इसे खड़ा करने की बात कही है, जिस तरह से दलित मुद्दों/तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश किया जाता है या उन्हें आने नहीं दिया जाता है, उसे देख कर सवाल उठना लाजमी है।

सबसे बड़ा सच यह है कि मीडिया निजी हाथों का खिलौना है और ऐसे में दलित प्रतिनिधित्व की उससे अपेक्षा करना उचित नहीं। मीडिया से उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह दलित मसले को सकारात्मक ढंग से उठाये। वह तो बाज़ार व अपनी हिन्दूवादी मानसिकता को तरजीह देता रहा है। हाल में ही मायावती सरकार के शासन को मीडिया ने निरंकुश शासन बता दिया। एक जाने-माने टी.वी. पत्रकार आधे घण्टे के कार्यक्रम में मायावती सरकार को गरियाते ही रहे। वहीं बिहार सरकार ने अपने अहम फैसले में राज्य में 30 अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति थाना खोलने का निर्णय लिया, तो बिहार की मीडिया में लीड समाचार पत्रों ने इसे अंदर के पेज में जगह दी, जबकि अंग्रेज़ी अख़बार ने मुख्य पृष्ठ पर छोटी ख़बर चिपका दी। दलितों को गोलबंद करने और उनकी बातों को रखने के लिए अपना मीडिया ही एकमात्र विकल्प बचता है। जाने-माने लेखक डॉ. सोनाली नरगुंदे इसे अहम प्रश्न मानते हैं, 'सबसे अहम प्रश्न यह है कि दलित पत्रकारिता दलितों द्वारा या फिर दलितों के लिए? इसके पूर्व का एक प्रश्न और है कि दलितों के लिए किस प्रकार का विमर्श? क्योंकि दलितों के लिए पत्रकारिता का प्रश्न सबसे बाद में उठने वाला प्रश्न रहा है। पत्रकारिता पर सदा से उच्च बौद्धिकवादियों का वर्चस्व रहा है। इसके लिए उच्च जाति के लोगों को लेने की परंपरा का निर्वहन किसी-न-किसी रूप में आज भी जारी है। ऐसे में दलितों का पत्रकारिता में आना और अपने समाज के लिए कुछ करना, तो कठिन कार्य है, उस पर सरकार द्वारा दी जा रही सुविधाओं के कारण वो और भी कटघरे में खड़े हो गये हैं। सामान्य समाज तो भीमनायकों को यह कह कर अलग रखता है कि तुम्हारे पास सुविधाओं की कमी है क्या? आरक्षण तो मिल ही गया, अब कुछ तो हम लोगों के लिए रहने दो।

ऐसे में पत्रकारिता की मुख्यधारा में आने के लिए पत्रकारिता को दलितों की दुनिया को सकारात्मक रूप से देखना होगा।'

(**स्त्रोत : समागम, अक्टूबर 2011, 'पत्रकारिता दलितों की या दलितों के लिए?'–डॉ. सोनाली नरगुंदे**)

यह भी सच है कि यह काम दलितों को खुद करना होगा। उन्हें केन्द्र और राज्य सरकारों पर दबाव बनाना होगा कि विज्ञापन के रूप में दलितों का हिस्सा तत्काल उनकी पत्र-पत्रिकाओं को जारी किया जाये। यह भी सच है कि भविष्य दलित मीडिया का ही है, क्योंकि सच को कहने का साहस दलितों में ही है (**बयान, सितम्बर 11 में प्रकाशित**)

संदर्भ :

1. गुलामगीरी, लेखक- ज्योतिबा फुले, मराठी से हिंदी अनुवाद- डॉ. विमलकीर्ति, सम्यक प्रकाशन।
2. पुस्तक, 'मीडिया और दलित', संपादक- डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' व एस.एस.गौतम पृष्ठ संख्या- 75
3. समागम, अक्टूबर 2011,'पत्रकारिता दलितों की या दलितों के लिए?'–डॉ. सोनाली नरगुंदे।

सामाजिक न्याय और मीडिया

मीडिया में समाज का आईना आज साफ़ नहीं दिखता, बल्कि समाज को राह दिखाने वाला मीडिया समाज से दूर होता जा रहा है। ख़ास तौर पर सामाजिक न्याय के मसले पर ये पूरी तरह से दूर हो चुका है। यों कहा जा सकता है कि भारतीय मीडिया का स्वरूप आज पूरी तरह बदल चुका है। पूरी तरह से बाज़ार के कब्ज़े में आये मीडिया के चरित्र से हर कोई वाक़िफ है। लोकतंत्र पर नज़र रखने वाले मीडिया की धार में भोथरापन आ चुका है और जो तेज़ी दिखती है, उसमें बााज़रवाद है। बाज़ार को देखकर ख़बरों को परोसना और उसे बेचना इसकी फितरत बन गयी है।

विभिन्न आरोपों के घेरे में आये भारतीय मीडिया की सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ने में कोई ख़ास भूमिका में खड़ी नहीं दिखती है, जब तक कि कोई बड़ी घटना न हो। अगर हम पीछे देखेंगे, तो पाएंगे कि आरक्षण के सवाल पर मीडिया पूरी तरह से बँटा था। मीडिया राजनीतिक व आपराधिक ख़बरों के पीछे भागता रहता है। सत्ता और राजनेताओं के इर्द-गिर्द घूमने वाले मीडिया का फोकस सामाजिक पहलुओं से जुड़ी सरोकारों से अछूता रहता है। चैनलों का हाल यह है कि राजनीतिक बयानबाजी को बार-बार दिखाते हैं, वहीं सामाजिक न्याय की ख़बर को ऐसे दिखाते हैं, जैसे सड़क पर सफ़ाई में झाड़ू लगता हो। आरक्षण के पक्ष में मीडिया के स्वर प्रखर नहीं थे। आरक्षण के खिलाफ़ आवाज़ बुलंद करने वालों के 'हाँ' में 'हाँ' मिलाता दिखा था मीडिया। उनकी ख़बरों को प्राथमिकता मिलती थी, लेकिन जो समर्थन में आवाज़ उठाते थे, उन्हें वह गोल कर देता है। समाज के हालात क्या हैं, यह कोई छुपा कर रखने वाली बात नहीं है। वर्षों बाद भी सामाजिक असामनता बरकरार है। बराबरी और

ग़ैर-बराबरी का फ़ासला इतना बड़ा है कि इसे पाटना बड़ी बात है। मीडिया सामाजिक असमानता को पाटने में आगे बढ़ती नहीं दिखती, इसके उदाहरण भरे पड़े हैं।

सामाजिक न्याय की अवधारणा या संकल्पना समाज में एक आदर्श स्थिति की उद्घोषणा है, जिसका अर्थ है- समाज में सभी व्यक्ति समान समझे जाएंगे तथा व्यक्ति और व्यक्ति में जाति, धर्म, लिंग, नस्ल, संपत्ति या अन्य किसी आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार और कर्तव्य सामाजिक न्याय के ही मौन समर्थन हैं, जिसके तहत अस्पृश्यता, छुआछूत जैसी कृत्रिम सामाजिक बुराइयों की समाप्ति के स्पष्ट उल्लेख हैं। वस्तुतः सामाजिक न्याय का उद्देश्य देश के सभी नागरिकों को स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता प्रदान करना भी है। सभी नागरिकों को शिक्षा के समान अवसर की उपलब्धता और देश के प्राकृतिक और आर्थिक संसाधनों का समाज के सभी लोगों के बीच न्यायोचित वितरण की हिमायत ही सामाजिक न्याय का आईना है।

किसी भी प्रजातांत्रिक देश का सबसे उपयुक्त दस्तावेज़ 'संविधान' होता है, जिसमें मानव हितों के तमाम प्रावधान मौजूद होते हैं, लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के 66 वर्षों के बाद भी हमारे समाज में वैसी तमाम विसंगतियाँ मौजूद हैं, जो सामाजिक न्याय की, समतामूलक समाज की, समाजवादी राज्य की संकल्पना पर हर दिन कालिख पोत रही हैं। जातियों-उपजातियों में बँट चुका और बँट रहा समाज सिसक रहा है। आरक्षण के सरकारी प्रावधानों के बावजूद, आरक्षित वर्ग का सम्मान के साथ उत्थान सपने की तरह लगता है। आरक्षित वर्ग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर अनारक्षित यानी ऊँची जातियों के व्यंग्यात्मक वाणों को सहते रहने के लिए विवश है। दलित वर्ग अपने हक़ से वाक़िफ नहीं है और सामाजिक क्रांति की एक हल्की कोशिश भी जन्म के पहले भी कुचल दी जाती है। दलितों के मंदिर प्रवेश पर प्रतिबंध की ख़बरें सारे देश के हिस्सों से आती रहती हैं। मानवीय मूल्यों का पतन रोजमर्रा की एक आम घटना हो गयी है। आज आत्मकेन्द्रित हो चुका समृद्ध वर्ग वैयक्तिक ऐश्वर्य की तलाश में राष्ट्र के सांस्कृतिक श्रृंगार को भूल चुका है। विज्ञान नये-नये अनुसंधानों के बल पर नित नयी ऊँचाईयाँ छू रहा है और वर्तमान समाज जाति व्यवस्था की जकड़न में दिन-ब-दिन जड़ होता जा रहा है।

सवाल उठता है कि इसके लिए ज़िम्मेदार कौन है? इससे भी बड़ा और प्रांसगिक प्रश्न यह है कि सामाजिक समरसता की जवाबदेही किनके कंधों पर है? व्यस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका या सामूहिक रूप से तीनों पर या किसी और पर? मोटे तौर पर, देश के संतुलित, सम्यक और समावेशी विकास के लिए नियमों का सृजन व्यवस्थापिका के अधीन है और स्थापित नियमों का कार्यान्वयन कार्यपालिका का दायित्व है। न्यायपालिका की पैनी नज़र होती है– दोनों ही अंगों पर ताकि दायित्वों का पूरा-पूरा निर्वहन हो और अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन न हो।

आज़ादी के बाद से ही नये रचनात्मक क्रियाकलापों और राष्ट्र हित में कर्तव्यों के परिपालन में पत्रकारिता की एक ठोस, सार्थक और सबल भूमिका रही है। दरअसल, लोकतांत्रिक प्रशासन का एक अपरिहार्य अंग मीडिया है, जो चौथे खम्भे के तौर पर जाना जाता है। इसकी जवाबदेही लोकत्रंत के अन्य खम्भों से ज्यादा महवपूर्ण है। इस चौथे खंभे से हमेशा ही पूरे देश की अनगिनत उम्मीदे बंधी होती हैं और उन उम्मीदों पर यथासंभव खरा उतरना मीडिया की सबसे बड़ी नैतिक ज़िम्मेवारी होती है। राष्ट्रहित और जनहित में बिना किसी भेदभाव के समाज की हर हलचल को शब्दों में पिरोना ही पत्रकारिता है। समाज के हर वर्ग की आकांक्षाओं को गुंजित करना पत्रकारिता की मर्यादा है। समाज के हर वर्ग के सपनों की हिफ़ाजत और किसी के प्रति, किसी भी तरह की ज्यादती के विरोध में सशक्तता से खरा होना ही मीडिया का यथार्थ संदर्भ है।

अब सवाल है कि अगर किसी लोकतांत्रिक देश के किसी भी कोने में किसी एक व्यक्ति या समूह के द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति या समूह पर अमानवीय कृत्य बार-बार होता है, इस तरह की कृतियों से अगर मानवता का चेहरा बार-बार लहूलुहान होता है, तो व्यापक दायरे और विशाल दायित्व वाले मीडिया पर शायद इस खून के छींटे सबसे पहले पड़ते हैं और पड़ने भी चाहिए। इससे न सिर्फ़ सामाजिक न्याय की परिभाषा के अक्षर मिटते हैं, बल्कि मीडिया को लेकर स्थापित वर्जनाएं भी टूटती हैं। जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल में आशीष नंदी के बयान के बाद दलित-पिछड़ों के आक्रोश और मीडिया द्वारा नंदी के बचाव की कोशिश ने मीडिया पर से पिछड़े-दलितों के विश्वास की परतों को खरोंचने का ही काम किया है। आख़िर, इसकी वजह क्या है? क्यों ऐसा ही बार-बार होता है? और कैसे और कहाँ इसके समाधान की तलाश की जा सकती है?

समाज के पिछड़े, दलित और शोषित तबकों के उत्थान की केन्द्रीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय की योजनाओं को मीडिया के द्वारा व्यापक कवरेज की आवश्यकता है। इसी संदर्भ में मीडिया को समाज के हर वर्ग, विशेषकर ग्रामीण, पिछड़े, गरीब वर्ग की मूल समस्याओं पर फोकस करने की अपनी भूमिका को ईमानदारीपूर्वक निभाना होगा। ख़ासकर, मीडिया क्रमशः इनसे अपनी दूरी बढ़ाता जा रहा है। इसकी वजह साफ़ है कि उसकी नज़र में वहाँ बाज़ार नहीं है। देखा जाये तो जब तक कोई बड़ी घटना नहीं घटती, सामाजिक न्याय के मुद्दे ख़बर नहीं बनते हैं और बनते भी हैं, तो सही तस्वीर मीडिया में नहीं आती है। मसलन, आरक्षण के मुद्दा को ही लें। जब पिछड़ी जाति को आरक्षण देने की बात सामने आयी, तो विरोध में समाज का वह तबका खड़ा हो गया, जो नहीं चाहता था कि पिछड़ी जातियाँ आरक्षण का लाभ लेकर सरकारी नौकरियों में द्विजों की बराबरी करें। आरक्षण के विरोध की ख़बरों से मीडिया पटा रहा। वहीं आरक्षण के समर्थन में जो भी आंदोलन हुए, उसे मीडिया ने दबाने की पूरजोर कोशिश की। ख़बर आ भी जाती थी, तो जानबूझ कर

ख़बरों को अंदर के पेज़ में दिया जाता था ताकि लोगों की नज़र नहीं पड़े। आज भी सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ने वालों के साथ मीडिया का व्यवहार दोयम दर्ज़े का रहता है। यह दूरी तभी और सिर्फ़ तभी सिमट सकती है, जब सामाजिक न्याय के दायरे में आने वाली जातियों की मीडिया में उचित भागीदारी हो। मीडिया में जब तक उन तबकों से लोग नहीं आएंगे, तब तक उन वर्गों की समस्याओं, उनकी आवाज़ को उतनी प्रमुखता से, उतनी गहराई से नहीं उठाया जा सकता है, जितनी जरूरत है। मीडिया में हिस्सेदारी के सवाल पर राष्ट्रीय सर्वे के आँकड़े चौंकाते हैं। मीडिया में सामाजिक न्याय के लोगों की भागीदारी नहीं के बराबर है।

यह हिस्सेदारी शिक्षा के बिना मुमकिन नहीं है। उत्कृष्ट शैक्षिक स्तर के बिना सामाजिक न्याय कभी पूरा नहीं हो सकता। सामाजिक न्याय के दायरे में जो भी जातियाँ आती हैं, वे शैक्षिक तौर पर आज भी पिछड़ी हैं। आज यह समुदाय शिक्षा के बल पर ही सामाजिक और आर्थिक उन्नति को छूता जा रहा है। तो इन जातियों और वर्गों को भी इतना शिक्षित होना होगा कि ये सामाजिक-आर्थिक न्याय को स्वतः हासिल करने की क्षमता को धारण कर सकें। यहाँ एक और प्रमुख बात का ज़िक्र आवश्यक है कि पिछड़े-दलित वर्ग के जो लोग आज उच्च पदों पर पहुँच चुके हैं, उन्हें आत्मकेन्द्रित या परिवार केन्द्रित होने के दायरे से बाहर निकलकर समाज केन्द्रित होना होगा। इन वर्गों के सफल लोगों को अपने-अपने समूहों के सामूहिक उत्थान के प्रति प्रतिबद्ध होना होगा। उन्हें अपना हाथ बढ़ाकर उन हाथों को अपनी ओर खींचना होगा, जिन्हें किसी सहारे की जरूरत है।

सामाजिक न्याय के लिए प्रतीक्षारत वर्गों का मुक्तिदाता कोई बाहर से नहीं आएगा। इसके लिए इन्हें स्वयं आगे आना होगा। अपनी स्थिति से पहला साक्षात्कार हमें खुद करना होगा। एक लंबी लड़ाई के लिए करवट बदलना होगा, बिना रूके, बिना थके-ठहरे, अनवरत, मगर सिर्फ़ और सिर्फ़ न्यायसंगत तरीके से, क्योंकि सामाजिक न्याय की लड़ाई मीडिया पूरी तरह नहीं लड़ता। जरूरत है, मुख्यधारा के मीडिया के समक्ष सामाजिक न्याय की बात करने वाले मीडिया को खड़ा करने की। सच है कि मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खंभा कहा जाता है, उसमें दलित नदारद है, अदृश्य है, उनका प्रतिनिधित्व नहीं है, उनकी अपेक्षाएं, दुःख-दर्द मीडिया में नहीं आते हैं। मीडिया द्विजों के हाथ में हैं। वे जैसा चाहते हैं, लोगों को परोसते हैं और हमलोग उसे पढ़ने के लिए बाध्य हैं। आज़ादी के पहले के मीडिया में थोड़ी जगह दलितों-पिछड़ों के लिए थी, लेकिन आज़ादी के बाद दलित-पिछड़े एक प्रतिद्वंद्वी के रूप में खड़े होने लगे। द्विजों को ख़तरा दिखने लगा और फिर मीडिया से अदृश्य करने की कोशिश होने लगी है। वर्तमान में स्पष्ट कारण है, मीडिया जिनके हाथ में रहा है और आज जिनके हाथ में है, वे किसी भी कीमत में दलितों-पिछड़ों को अपने मीडिया में जगह देने के लिए तैयार नहीं हैं। जाहिर सी बात है कि मीडिया अपने वर्ग चरित्र और वर्ग हित को स्वीकार

कराना चाहता है, बढ़ाना चाहता है। दलितों-पिछड़ों की जो ख़बरें छपती हैं, जब तक बलात्कार व आगजनी नहीं हो जाती, तब तक मीडिया में ख़बर नहीं बनती है। हर रोज़ दलितों-पिछड़ों के साथ भेदभाव हो रहा है, उत्पीड़न हो रहा है, वह ख़बर नहीं बनती। बुंदेलखंड में आज भी दलित जाति के लोग जूते पहन कर ब्राह्मणों के घर के आगे से नहीं निकल सकते, सार्वजनिक कुएं से पानी नहीं भर सकते। सरकारी हैंडपाइप से पानी नहीं ले सकते। यह सब मीडिया में ख़बर नहीं बनती और न ही ख़बर बनेगी। दलितों-पिछड़ों को सोचना होगा कि कैसे मीडिया को मज़बूर करें, उनकी बातों को तरजीह दें। जो अख़बार दलितों-पिछड़ों की ख़बरें नहीं छापते हैं, तो उनका बहिष्कार करें। सर्वे होना चाहिए कि कौन अख़बार दलित-पिछड़ा विरोधी है, फिर उसका खुलेआम बहिष्कार कर देना चाहिए।

(सामाजिक न्याय संदेश, जनवरी 2014 में प्रकाशित)

दलित सवालों की अनदेखी

आरोप है कि दलित सवालों को मीडिया ने लगभग दरकिनार-सा कर दिया है। सवाल दलित मुद्दों का हो या फिर साहित्य या फिर कोई अन्य मुद्दा। इसे लेकर दलित बुद्धिजीवियों के बीच सवाल उठने लगे हैं कि दलित सवालों को उचित प्रतिनिधित्व मीडिया में मिल रहा है या नहीं। केवल दलित उत्पीड़न और बलात्कार को स्थान मिल रहा है, लेकिन वैचारिक सोच को दरकिनार करने की साज़िश हो रही है। दलित विमर्श पर फोकस को लेकर अब कोई मीडिया पक्षधर नहीं दिखता है। सीधी-सी बात है, उपभोक्तावादी संस्कृति में मीडिया का स्वरूप व्यापक हो चुका है। पत्रकारिता 'मिशन है'- इस समझ का ज़माना लद चुका है। साथ ही आज पत्रकारिता बाज़ारवाद की गिरफ़्त में आकर एक ख़ास वस्तु के रूप में अपनी पहचान बना चुकी है। ख़बर को मसालेदार बनाकर बेचने का सिलसिला जारी है। बाज़ारवाद से आम, ख़ास होते मीडिया की मोह-माया से 'कुछ' भी नहीं बच पाया है। हर ख़बर को 'वस्तु' बनाकर पेश करने की होड़ के सामने दलित विमर्श ही क्या, मानवीय पहलू भी दूर हो चुके हैं। जहाँ तक मीडिया में दलित मुद्दों को उचित प्रतिनिधित्व देने की बात है, तो प्रश्न बाज़ारवाद का ही सामने आता है। जो दलित विचार से जुड़े हैं, वही अलग से दलित विमर्श के नाम पर पत्र-पत्रिकाएं निकालकर दलित साहित्य, विमर्श आदि को जगह दे रहे हैं।

दलित साहित्यकार डॉ. पूरन सिंह मानते हैं कि मीडिया में दलित सवालों को उचित प्रतिनिधित्व मिलना तो दूर, उन्हें गिना तक नहीं जाता। मीडिया, जिसे देश के विकास में 'चौथा स्तम्भ' कहा जाता है, उसके मालिक सवर्ण मानसिकता के लोग यह

बिल्कुल स्वीकार नहीं करेंगे, जिन्होंने इस समाज में सदियों से शोषण, अपमान, तिरस्कार सहा हो, उन्हें प्रतिनिधित्व दिया जाये? मैं तो यह कहूँगा कि मीडिया चाहे तो दलितों के यथार्थ को जनसामान्य तक पहुँचाने में सर्वोच्च भूमिका निभा सकता है। मीडिया के शीर्ष पर बैठे ये लोग जिस दिन मित्रता, शक्ति, विश्व मैत्री, प्रेम एवं बन्धुत्व की भाषा बोलना सीख लेंगे, उस दिन यह सवाल अप्रासंगिक हो जाएगा।

ज्यादातर दलित साहित्यकारों का मानना है कि देश का मीडिया राजनीति, अपराध, हीरो-हीरोइन, साँप-बिल्ली-कुत्ते, अंधविश्वास आदि ख़बरों से पटा रहता है। अख़बारों के रविवारीय व संपादकीय पृष्ठों में भी दलित सवालों और रचनाओं को कोई स्थान नहीं मिल रहा। विचार व साहित्य के नाम पर सवर्णों के साक्षात्कार, कहानियाँ, कविताएँ ही आती हैं, और तो और, रविवारी परिशिष्टों में मीडिया ज्योतिष, वास्तुशास्त्र आदि की चर्चाओं से लबरेज रहता है। डॉ. भीमराव आम्बेडकर, ज्योति बा फूले जैसे दलित विचारकों के विचार तो नहीं के बराबर आते हैं। अब तो अन्य महान व्यक्तियों को भी मीडिया तरज़ीह नहीं देती है। मीडिया के आंकलन से साफ़ होता है कि इसने वैचारिक मुद्दों से मुँह मोड़ लिया है।

चर्चित दलित पत्रकार-साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय मानते हैं कि भारत का सवर्ण मीडिया आरम्भ से ही बेईमान और दोगले चरित्र का रहा है। उसकी कथनी और करनी में अंतर है। सच तो यह है कि पिछले एक दशक से वे दलित सवालों को अपने हित के लिए उछालने में लगे हैं। ऐसा करते हुए वे दलित सवालों को प्रतिनिधित्व नहीं दे रहे हैं, बल्कि दलितों को राजनीतिज्ञों की तरह रिझाते हैं। वह मार्केट तलाश करते रहे हैं, जो उन्हें मिल भी रहा है। दलितों पर लिखते हुए उनका व्यापार खूब फल-फूल रहा है। दलित समाज के बुद्धिजीवियों को कम-से-कम यह समझना चाहिए। उन्हें अपने स्वतन्त्र मीडिया की स्थापना कर उसका विकास करना चाहिए।

वहीं कवि-पत्रकार कैलाश दहिया कहते हैं, मीडिया दलित अत्याचारों को तो उठा रहा है, लेकिन दलितों का जो दृष्टिकोण है, उसे नज़रअंदाज किया जा रहा है। दलित चाहता क्या है, उस पर मीडिया बात नहीं करता, केवल आरक्षण के सवाल पर मीडिया को कोसने का काम करता रहता है। आरक्षण को सामाजिक स्तर पर नहीं देखता है, बल्कि उसके आर्थिक आधार को ही सामने लाता है। दलितों के राजनीतिक सवाल को नहीं उठाता, बल्कि दलित नेतृत्व की बुराई ही करता रहता है। दलित राजनीति के सकारात्मक बातों को मीडिया निगल जाता है। कबीर व तुलसी के बीच में जो भेद है, उसे मुद्दा नहीं बनाता। कबीर दलितों के सद्गुरु हैं, जबकि तुलसी वर्ण व्यवस्था के पोषक। कहने का तात्पर्य यह है कि पूरी व्यवस्था ही सवर्णों के हाथ में है। ऐसे में मीडिया में दलितों और उनसे संबंधित मुद्दों की उपेक्षा कोई आश्चर्य की बात नहीं। वैसे मीडिया में दलित सवाल नहीं उठ रहे हैं, तो इसे कोसने की जरूरत नहीं है, क्योंकि मीडिया जो है, वह सवर्णों का है। अगर दलित मुद्दों को उठाने की बात है, तो इसके

लिए मानसिकता बदलने की ज़रूरत है। वैसे यह कहना जल्दबाजी होगी कि दलितों के लिए कोई अलग मीडिया बनाया जाये। हाँ, किसी भी मीडिया में दलितों का प्रतिनिधित्व साफ़-साफ़ दिखाई देना चाहिए। जहाँ तक योग्यता की बात है, तो यह कुतर्क के सिवाय कुछ नहीं है। जब अमेरिका में डायवर्सिटी का सिद्धांत लागू हो सकता है, तो हमारे यहाँ क्यों नहीं? अंतर्मन में झाँकने की ज़रूरत है। बस औपचारिकता पूरी करने के लिए दलित पर होते अत्याचारों को मीडिया में जगह दी जाती रही है, वह भी मात्र व्यावसायिक नज़रिये के तहत।

सच है, मीडिया पर एक सरसरी नज़र डाली जाये या फिर हाल में मीडिया पर हुए शोध पर नज़र टिकायी जाये, तो साफ़ पता चलता है कि कब्ज़ा सवर्णों का है। ऐसे में न्याय की बात बेमानी लग सकती है, बल्कि आरक्षण या फिर दलित-पिछड़ों के मामले में मीडिया के दोगले चरित्र से लोग वाक़िफ हो चुके हैं। ऐसे में मीडिया में दलित मुद्दों की केवल और केवल ख़बर ही बनती है। वहीं देखा जा सकता है कि दलितों पर अत्याचार से जुड़ी ख़बरों को जरूर स्थान दिया जा रहा है।

वहीं देश भर के जाने माने दलित चिंतक/लेखक-पत्रकारों ने मीडिया में दलित सवालों के उचित प्रतिनिधित्व पर कुछ यों अपने विचार रखे–

प्रिन्ट मीडिया में दलित उत्पीड़न और बलात्कार को स्थान मिल रहा है, यही स्थिति इलेक्ट्रानिक मीडिया की भी है, किन्तु दलित साहित्य को इनसे प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। -माताप्रसाद

कुछ समय पहले जैन टी.वी. दलित विमर्श पर फोकस दिखाती थी, अब कोई मीडिया पक्षधर नहीं है। -जसवंत सिंह जनमेजय

मीडिया में भी दलित सवालों और दलित साहित्य को कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता। मीडिया वाले तो दलित सवालों से और ज्यादा मुँह चुराते हैं, लेकिन मीडिया की यह मनमानी ज्यादा दिन तक चलने वाली नहीं है, दलित अब अपने अधिकारों के लिए सजग व आक्रामक होने लगे हैं।- भरत सिंह बेचैन

राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तर के समाचार-पत्र राजनीति, अपराध समाचारों आदि से भरे रहते हैं। (रविवारीय पृष्ठों में भी दलित सवालों और रचनाओं को कोई स्थान नहीं मिल रहा। साहित्य के नाम पर सवर्णों के साक्षात्कार, कहानियाँ, कविताएं ही आती हैं। इनके रविवारी परिशिष्टों में बहुत से स्थानों पर ज्योतिष, वास्तुशास्त्र तथा स्वास्थ्य चर्चाएं ही होती हैं।) महिला विमर्श भी न के बराबर है और जो दिया जाता है, उसमें सौन्दर्य-निखार तथा रसोई के एक से बढ़कर एक स्वादिष्ट व्यंजन बनाने की विधियाँ देकर ही महिला-विमर्श की पूर्ति की जा रही है। कुल मिलाकर मीडिया में नारी और दलित विमर्श गायब है। -जयप्रकाश वाल्मीकि

मीडिया में दलित साहित्य को तो नहीं, लेकिन दलितों पर अत्याचार से जुड़ी ख़बरों को ज़रूर स्थान दिया जा रहा है, लेकिन उनका फॉलो-अप कभी नहीं किया जाता,

जो आवश्यक होना चाहिए। -डी.डी. राउत मानव

मीडिया भी बाज़ार का ही एक अंग है और बाज़ार पैसा नाम के मिथ को एक पवित्र सत्य की तरह पेश करता है। यहाँ एक बात ज़रा हटकर कहने की विनम्र इज़ाजत चाहता हूँ, पैसा झूठ, हिंसा, अहंकार और सत्ता में पर्यायवाची शब्द है। हालाँकि, शब्दकोश ऐसा नहीं कहता। पैसा कोई धनात्मक शक्ति नहीं, इसलिए इसका सृजन, रक्षण या पालन से कोई सम्बन्ध नहीं है। पैसे का सम्बन्ध भक्षण से है। दरअसल जीवन के साधनों से दूसरों को (इनमें पेड़-पौधे, पशु-पक्षी वगैरह भी शामिल हो सकते हैं) वंचित करके कमजोर करना और इन वंचितों की कमज़ोरी को स्वयं के शक्तिशाली होने के प्रमाण के रूप में पेश कर सकना ही पैसा है। पहले इसको पहचानना मुश्किल था, लेकिन यदि आज सचेत रूप से पर्यावरण एवं प्रदूषण इसकी वजह से संकट में पड़ी धरती के कारणों को खोजेंगे, तो पैसे के राज़ का पर्दाफ़ाश को जाएगा और आप देखेंगे कि जिस शक्ति को पैसा कहा जा रहा है, कहीं से भी धनात्मक नहीं है। वह विशुद्ध शत्रुत्व है। मीडिया चूँकि बाज़ार का ही एक अंग है, इसलिए पैसा ही उसका लक्ष्य है। बाकी सब चीज़ें साधन मात्र हैं। ऐसे में उचित-अनुचित के आधार पर मीडिया में दलित साहित्य के प्रतिनिधित्व की बात बेमानी है। हाँ, मीडिया दलित साहित्य को कुछ स्पेस दे रहा है, क्योंकि वह उसकी मार्किट वेल्यू को पहचान रहा है। -गणेश रायबोले

अभिव्यक्ति की आज़ादी है इस आज़ाद देश में, जहाँ पर एक मुक्त समाज में प्रेस का कर्तव्य है, बिना किसी भय, प्रभाव के लोगों को जानकारी देना। अब कौन अपना दायित्व पूरी निष्ठा के साथ निभाता है, इसका कोई मापदंड तो नहीं है, हाँ अगर ऐसा ईमानदारी से किया जाये, तो फिर मसले कम होते जाएंगे और उन्हें बार-बार उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, पर प्रेस पर भी कई अंकुश होते होंगे। यही मानकर जो छापा जा रहा है, उसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी भी एक मुद्दे को लेकर हम उसके विकास की ओर जाती दिशा में कितना आगे बढ़ रहे हैं। -देवी नागरानी

बिल्कुल नहीं। मीडिया साहित्य क्या, दलित सम्बन्धी किसी भी सवाल को कोई अहमियत नहीं देता। उल्टे रवैया हमेशा नकारात्मक रहता है। -मूलचंद सोनकर

मीडिया सरकारी हो या निजी, पूरी तरह व्यावसायिक हो गया है, उसे कल्याणकारी कार्यों से कोई लेना-देना नहीं रह गया है। मीडिया द्वारा दलित सवालों को उचित तो क्या, वाजिब स्थान तक न दिये जाने के अनेक उदाहरण मौजूद हैं। मीडिया एक व्यावसायिक संस्था बनकर रह गयी है। उत्तरप्रदेश के पिछले चुनावों में मीडिया के अनुमान का हश्र हम देख चुके हैं। उसे दलित तो क्या आम जनता की समस्याओं से भी कोई सरोकार नहीं है। -तेजपाल सिंह 'तेज'

'दलित पत्रकारिता' जैसी पुस्तक (मोहनदास नैमिशराय द्वारा लिखित) अवश्य सजग करती है, किन्तु मीडिया नारी-साहित्य की तरह दलित-साहित्य को भी एक प्रवाह के रूप में मानकर चलता है। फलस्वरूप विशेष प्रतिनिधित्व की बात नज़र

नहीं आती। -डॉ. शोभा पंवार निंबालकर

बिल्कुल भी नहीं मिल रहा है। -कंवल भारती

ऐसा प्रतीत होता है कि न तो मीडिया ने ही दलित समस्याओं को उजागर करने में अधिक रुचि दिखाई और न ही दलित साहित्यकारों ने मीडिया का लाभ उठाने में अधिक रुचि दिखायी। दलित साहित्य आमतौर पर दलित समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं तक सिमटा पड़ा है। यही कारण है कि मीडिया में दलित सवालों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पा रहा है। -रवि शंकर

मीडिया तो निजी हाथों का खिलौना है, उसमें प्रतिनिधित्व कहाँ से मिलेगा?

-कर्मशील भारती

हालाँकि कई दलित साहित्यकार-पत्रकार मानते हैं कि इन सबके पीछे बाज़ारवाद महत्वपूर्ण है। मीडिया चूँकि बाज़ार का ही एक अंग है, इसलिए पैसा ही उसका लक्ष्य है। ऐसे में उचित-अनुचित के आधार पर मीडिया में दलित सवालों के प्रतिनिधित्व की बात बेमानी लगती है। इधर तेज़ी से यह बात उठने लगी है कि दलितों को अपनी बात आम-ख़ास जनता तक पहुँचाने के लिए एक अदद मीडिया की अलग से जरूरत है। अगर ऐसा होता है, तो इस दिशा में एक सकारात्मक पहलू होगा, क्योंकि मीडिया के चरित्र से हर कोई वाकिफ़ है। कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

(संपादित अंश 'बयान' दिसम्बर 09 और बेव पत्रिका 'दलित मत' में प्रकाशित)

संदर्भः

पुस्तक : दलित साहित्य के यक्ष प्रश्न- डॉ. रामगोपाल भारतीय।

दलितों से मुँह फेरता मीडिया

कहते हैं, मीडिया की जाति नहीं होती, लेकिन इस पर सवर्ण होने का या फिर हिन्दूवादी होने का, जो आरोप मढ़ा जाता रहा है, वह चरितार्थ होते हुए अक्सर देखा जाता रहा है। हाल ही में, बिहार में दर्जनों दलितों के नरसंहारों के मास्टरमाइंड रहे सरकारी आँकड़ों में दर्ज प्रतिबंधित रणवीर सेना प्रमुख ब्रह्मेश्वर मुखिया की हत्या के बाद उठे बवाल और बवाल से जुड़ी ख़बरों पर मीडिया का एकतरफा चेहरा या यों कहें कि उसके अंदर के जातिवाद को देखने का बेहतर अवसर मिला। मीडिया ने एक बार फिर साबित किया कि वह सवर्णों के साथ है, दलित के साथ नहीं। भारतीय मीडिया पर हिन्दू, सवर्ण, द्विज और जाति प्रेम का आरोप लगता रहा है। मीडिया ने अपने कारनामों से कई-कई बार इसके प्रमाण भी दिये हैं। दर्जनों नरसंहारों के आरोपी मास्टरमाइंड को एक नायक की तरह एक पेश कर कई दिनों तक प्रमुखता से मीडिया में जगह दी गयी।

प्रतिबंधित रणवीर सेना के कथित प्रमुख ब्रह्मेश्वर सिंह उर्फ़ मुखिया की 1 जून, 2012 को हत्या तथा उसके बाद बिहार की राजनीतिक फिजां को बदलने की जो कोशिश पटना की सड़कों पर भूमिहार जाति ने की, उसे ख़बरों में पिरोकर सबके सामने लाने का काम बिहार की मीडिया ने 'बड़े प्रेम' से किया, जिस तरह से ख़बरों को परोसा गया, उसने मीडिया के जाति प्रेम या सवर्ण सोच को सामने ला दिया। इस पर जातिवाद का आरोप लगाना अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इस दौरान जनहित की कई ख़बरें मुखिया की ख़बर के तले दब गयीं या यों कहें कि दबा दी गयीं। अख़बार के पन्ने ब्रह्मेश्वर सिंह उर्फ़ मुखिया की हत्या और हत्या के बाद की घटनाओं से पटे रहे। वह भी एक नहीं, दो से चार-पाँच और सात पृष्ठों

तक में।

किसी की हत्या, चाहे वह अपराधी हो या सजायाफ़्ता अपराधी या फिर साधु-महात्मा या आम-ख़ास, वह निंदनीय है, लेकिन जिस तरह से मीडिया ने मुखिया की हत्या और उससे उपजे हालात को 'ख़ास' तरजीह दी, वह कहीं से प्रशंसनीय नहीं है। सवाल गूँजता रहा कि एक कथित अभियुक्त जिस पर दलितों-पिछड़ों की हत्या का आरोप हो, उसे समाज के समक्ष आदर्श के तौर पर प्रस्तुत करना क्या मीडिया का दायित्व है? वहीं समाज-देश को राह दिखाने वालों को मीडिया इतनी तवज्जो नहीं देती है।

रणवीर सेना प्रमुख हत्याकाण्ड पर मीडिया ने 2 जून से लेकर 14 जून तक प्रमुखता से कवरेज दिया। मुखिया हत्याकांड की ख़बर को अख़बारों ने कई दिनों तक 'बैनर हेडलाइन' बनाया।

मीडिया के रुख को देखें–

'हिन्दुस्तान' ने लिखा, 'जल उठा आरा, रणवीर समर्थकों का उपद्रव, दफ़्तरों में अगजनी गाड़िया फूँकी', ''ब्रह्मेश्वर मुखिया की हत्या'' (पहले पृष्ठ का लगभग पूरा हिस्सा)।

'हिन्दुस्तान' के पृष्ठ दो पर 'आरा स्पेशल' के तहत मुख्यमंत्री सहित विभिन्न राजनीतिक दलों का बयान और मुखिया की तारीफ़ का पुल बाँधती एक रिपोर्ट व अंतिम पृष्ठ पर मुखिया के मुख से विधि व्यवस्था की तारीफ़। पृष्ठ संख्या आठ पर लगभग आधा पृष्ठ में घटना से उत्पन्न हंगामे की ख़बर और पृष्ठ संख्या दस व ग्यारह पर 'गम और गुस्से की गिरफ़्त में रहा कतिरा, अगजनी, पुलिस पर पथराव', रणवीर सेना से जुड़ी तस्वीर के साथ हंगामे की कई तस्वीरें छापी गयीं।

'दैनिक जागरण' ने ब्रह्मेश्वर मुखिया की हत्या पर लगभग प्रथम पृष्ठ का आधा हिस्सा और पृष्ठ संख्या-दो पर ब्रह्मेश्वर की हत्या पर गरमायी राजनीति और भाजपा के वरिष्ठ नेता तथा एक मंत्री के उस बयान को कि मुखिया 'गाँधीवादी विचार से प्रभावित थे' प्रकाशित किया। साथ ही ब्रह्मेश्वर हत्याकांड पर कई जिलों में हुई तोड़-फोड़ व हंगामा पर आधा पृष्ठ दिया। दैनिक 'आज' ने भी प्रथम पृष्ठ का पूरा भाग और अखबार के अंतिम पृष्ठ पर रणवीर सेना का सफ़रनामा, पृष्ठ संख्या-सात पर हत्या के बाद प्रदेश के कई जगहों में तोड़-फोड़ की ख़बरें दी।

'प्रभात ख़बर' ने प्रथम पृष्ठ का आधा हिस्सा, अंदर के पृष्ठ में दो पृष्ठों में मुखिया पर फोकस और हत्या के बाद हुए हंगामे की पूरी ख़बर दी।

'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने चार कॉलम में ख़बर को पहले पृष्ठ पर दिया, जबकि पृष्ठ संख्या-दो पर मुखिया हत्याकांड के बाद उनके समर्थकों के उत्पात से फोटो सहित ख़बर पटी रही।

'हिन्दुस्तान टाइम्स' का पहला पेज़ लगभग पूरा रणवीर सेना चीफ़ सूट डेड फोटो सहित प्रकाशित, पृष्ठ-दो और तीन पर अगजनी और तोड़फोड़ की ख़बर फोटो के साथ

छपी। पृष्ठ संख्या-पाँच पर भी रणवीर सेना की यात्रा 'गाथा' को आँकड़ों के साथ प्रकाशित किया गया। लगभग आधा पृष्ठ को समेटते हुए।

उर्दू अख़बारों ने भी प्रमुखता से ख़बरें प्रकाशित की।

अगले दिन मुखिया की शव यात्रा के दौरान पटना की सड़कों पर खुलेआम गुण्डागर्दी और आगजनी का शर्मनाक उदाहरण पूरे देश ने देखा, ख़बरिया चैनलों ने तो पल-पल की लाइव दिखाया ही था। प्रिंट मीडिया ने जमकर लाइव टेलिकास्ट की तरह ख़बरों को परोसा। हर अख़बार ने अपने पृष्ठ पर तोड़-फोड़-आगजनी और गुंडागर्दी की ख़बरें छापी। पूरे मामले में एकमात्र अख़बार 'द हिन्दुस्तान टाइम्स' के संपादक मेमन मैथ्यू की कलम पुलिस प्रशासन के खिलाफ चली। उन्होंने उपद्रव के दौरान पुलिसिया चुप्पी पर उसके मुखिया (डी.जी.पी.) को घेरे में लेकर लिखा 'गो अभयानंद गो।' बाकी अख़बारों के शीर्षक से आप अंदाज़ा लगा लें। (देखें 3 जून 2012 का अख़बार)

'मुखिया की शवयात्रा में उपद्रव'– 'हिन्दुस्तान' (इस दिन 'हिन्दुस्तान' ने पूरे के पूरे सात पृष्ठ इस घटना को दिये!)

'उपद्रव बेलगाम, धुँआ हुआ शोक'– 'दैनिक जागरण' ('दैनिक जागरण' ने इधर-उधर मिलाकर करीब दो पन्ने इस घटना को दिये!)

'पटना में उपद्रव'– 'प्रभात ख़बर' (पत्र ने कम से कम चार पन्ने इस घटना को दिए!)

'शव यात्रा में उमड़ा जनसैलाब'– 'आज'

'पटना इन ग्रिप आफ आरा हर्ट'– 'टाइम्स आफ इंडिया' (टाइम्स ने इधर-उधर मिलाकर क़रीब दो पन्ने इस घटना को दिये!)

'स्टेट सुसकम्बस टु सेना'– 'हिन्दुस्तान टाइम्स'

कहा जा सकता है कि मीडिया का रवैया पूरी तरह से जनपक्षीय न होकर ख़ास पक्षीय रहा है। ऐसा नहीं कि हत्याकाण्ड के बाद एक-दो दिन में मीडिया ने छापना बंद कर दिया, बल्कि सिलसिला जारी ही रहा। 12 जून, 12 को मुखिया के गाँव खोपिरा में श्राद्ध-भोज के एक दिन पहले दर्जनों गैस के सिलेंडर में आग लग जाने की ख़बर से 13 जून, 12 के अख़बारों के पन्ने रंगे रहे। 'प्रभात ख़बर' ने कवर पेज सहित एक पूरा पृष्ठ दिया, जबकि 'हिन्दुस्तान' ने दो पृष्ठ दे दिया। 'दैनिक जागरण', 'आज' सभी ने प्रमुखता दी। देखिये शीर्षक- 'खोपिरा में श्राद्ध से पहले अग्नि तांडव'– 'हिन्दुस्तान' । 'वरना तबाह हो जाते खोपिरा के कई घर'– 'जागरण' ने इसे अंदर 14 नम्बर के पेज पर डाला। 'श्राद्ध से पहले दहला खोपिरा'– 'आज'। 'खाक होने से बचा खोपिरा'– 'प्रभात ख़बर'। टाइम्स ने 5 नम्बर पेज पर जगह दी, एच.टी. ने पहले पेज पर छापा। यही नहीं लाइव रिपोर्टिंग की तरह घटना को रेखांकित किया गया, तस्वीरों के साथ। यों तो बिहार में आये दिनों अगलगी की घटनाएं होती रहती हैं। सैकड़ों

झोपड़ियाँ स्वाहा हो जाती हैं, टोला का टोला ख़त्म हो जाता है, लोग व पशुओं की मौत हो जाती है। ये ख़बर बनती है, मात्र सिंगल या दो से तीन कॉलम की। मुखिया के मामले में मीडिया की इतनी दिलचस्पी किसी के पल्ले नहीं पड़ रही है। मीडिया विशेषज्ञ भी मानते हैं कि बहुत हो गया। मीडिया ने हद ही कर दी!

वहीं बिहार में अज्ञात बीमारी से मर रहे मासूमों की ख़बर को बस रूटीन ख़बर की तरह छाप दिया गया, जबकि एक सौ से ज्यादा बच्चों की मौत हो चुकी है। किसी अख़बार ने एक से दो पेज देने की जहमत नहीं उठायी। मौत के पीछे की वजहें या इसके ज़िम्मेवार लोगों को तलाशने की कोशिश नहीं की, जबकि मुखिया की हत्या के बाद अख़बारों ने रणबीर सेना और ब्रह्मेश्वर पर पूरा का पूरा पेज दिया। संत, गाँधीवादी सहित अन्य विशेषणों से उन्हें अलंकृत कर छापा गया। यही नहीं ब्रह्मेश्वर सिंह उर्फ़ मुखिया को मुखिया 'जी' से संबोधित किया गया, जबकि अमूमन मीडिया किसी के नाम के संबोधन में 'जी' नहीं लगाता है। एक ओर रणवीर सेना व ब्रह्मेश्वर सिंह के कारनामों को अख़बार रेखांकित करता है, वहीं दूसरी ओर उन्हें संत, महात्मा और गाँधीवादी के तौर पर स्थापित करने से परहेज नहीं करता है।

मीडिया का यह चरित्र बुद्धिजीवियों के पल्ले तो नहीं पड़ा, वहीं आम जनता भी मीडिया के रवैये पर हैरान-परेशान रही। सवाल गूँज़ता रहा, दलित-पिछड़ों-मुस्लमानों की हत्या के कथित मास्टरमाइंड को आख़िर इतनी तरज़ीह क्यों? यह मीडिया का सवर्ण चरित्र नहीं तो और क्या है? दलित सवालों को नज़रअंदाज करने के सवाल को लेकर दलित चिंतक भारतीय मीडिया को अक्सर ही 'हिन्दू मीडिया' से संबोधित करने से परहेज नहीं करते हैं। मीडिया के जाति प्रेम की पोल मीडिया स्टडीज ग्रुप के एक सर्वे 'राष्ट्रीय मीडिया पर ऊँची जातियों का कब्जा' से पहले ही हो चुकी है। स्वभाविक है, अगर मीडिया पर सवर्ण मानसिकता काबिज़ होगी, तो उसके शब्दजाल में भी उसकी अपनी ही सोच की झलक दिखेगी? बल्कि समय-समय पर दिखती रहती है। मीडिया ने अपनी इसी मानसिकता के तहत बड़े ही चालाकी से मुखिया के गुनाहों पर परदा डालकर या कहें कि उसे धोने की कोशिश कर नरसंहार का मास्टर माइंड की जगह एक किसान नेता के तौर पर स्थापित करने का प्रयास किया, मरणेपरांत ही सही! ताकि इसका फायदा अब सवर्ण उठा सकें।

वहीं पर ब्रह्मेश्वर मुखिया की हत्या के बाद आरा के कतिरा स्थित आम्बेडकर छात्रावास में जो कोहराम मुखिया समर्थकों ने मचाया, उसकी एक झलक भी सही ढंग से मीडिया में नहीं आयी। छात्रावास के दलित छात्रों के साथ मारपीट, प्रमाण पत्रों और अन्य समग्रियों को आग के हवाले करने की घटना को एक या दो लाइन में समेट दिया गया। जिला प्रशासन के नाक के नीचे दलित छात्रावासों पर हमले हुए और सैकड़ों छात्रों को हॉस्टल से निकालकर बाहर कर दिया गया।

यही नहीं एक दलित युवक संतोष रजक की हत्या भी कर दी गयी, यह भी ख़बर,

ख़बर नहीं बनी। ऐसे में दलितों के प्रति मीडिया का यह व्यवहार बड़ा ही हास्यास्पद रहा! बिहार के किसी भी इलेक्ट्रॉनिक और प्रिंट मीडिया में ब्रह्मेश्वर की हत्या और हंगामे की ख़बर के बीच दलितों से जुड़ी इन ख़बरों का ज़िक्र नहीं किया गया (देखें– 'हंस', जुलाई-2012 ब्रह्मेश्वर मुखिया की हत्या के निहितार्थ– निखिल आनंद।)

दलितों पर हमला और मीडिया की अनदेखी का सवाल बहुत पुराना है। अक्सर सामाजिक न्याय और मिशन की दुहाई देने वाला मीडिया दलित मुद्दों से भटकता रहा है। दलितों से परहेज करता रहा है, उनकी ख़बरों से नज़र फेरता रहा है। आरा के आम्बेडकर छात्रावास के 'छात्र प्रधान' विकास पासवान और छात्रावास के पूर्व छात्र डाक्टर बिंदू पासवान घटना पर, मीडिया के मुँह फेरने पर कहते हैं कि समझ में नहीं आता कि आख़िर मीडिया हमारी ख़बरों को तरजीह क्यों नहीं देता?

दलित छात्रावास पर हमले की घटना के बाद उसकी ख़बरें मीडिया में नहीं के बराबर आयीं। भुक्तभोगी छात्रों ने घटना और मुआवज़े को लेकर जिला प्रशासन से गुहार लगायी। छात्रों के जले हुए सर्टिफिकेट और अन्य सामानों के बदले में मुआवजे की माँग की गयी। इन मुद्दों को ख़बर बनाकर मीडिया को दिया, लेकिन ख़बर न छपी व न ही इलेक्ट्रानिक मीडिया पर दिखायी गयी। थक-हार कर छात्रों ने आरा में धरना-प्रदर्शन किया। यह ख़बर जगह तो पायी, लेकिन ऐसे जैसे कोई बहुत ही महत्वहीन बात हो।

मीडिया की उपेक्षा से आहत दलित छात्रों ने आरा के मीडिया से सवाल भी दागे कि आख़िर उनका गुनाह क्या है? उनकी ख़बरों को प्राथमिकता क्यों नहीं दी जाती है? इस पर मीडिया की ओर से कोई जवाब नहीं मिला। विकास और बिंदू कहते हैं, जवाब आख़िर मिले तो कैसे, आरा के मीडिया पर सवर्णों का कब्ज़ा जो बरकरार है। ग़ैर-सवर्ण मीडिया है भी, तो पता नहीं किस दबाव से ख़बर को प्राथमिकता नहीं देते? उन्होंने कहा कि दलित छात्रावास की घटना को सी.डी. में डालकर प्रिंट और इलेक्ट्रानिक मीडिया को दिया गया, लेकिन किसी ने भी जगह नहीं दी, सबने मुँह फेर लिया। उन्होंने कहा कि राहत के लिए बार-बार माँग कर रहे हैं, लेकिन उनकी माँग को मीडिया नहीं उठा रहा है। अगर हमारी माँग मीडिया उठाता है, तो सरकार तक बात पहुँचेगी, लेकिन यह सब नहीं हो रहा है। वहीं मीडिया ब्रह्मेशवर हत्याकांड से जुड़ी पल-पल की ख़बर, घटना के बाद से रोजाना अब तक दिये जा रही है, जबकि इस घटना से दलित भी प्रभावित हुए हैं, उन पर कोई नज़र नहीं है। राहत नहीं मिलने पर हमने बिहार के अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग के अध्यक्ष विद्यानंद विकल को न्यौता दिया कि वे आयें और आम्बेडकर छात्रावास को आग के हवाले करने के बाद जो हालात बने हैं, उसका जायजा लें।

दुर्भाग्य की बात यह है कि आयोग के अध्यक्ष को घटना के 40 दिन बाद फुर्सत मिली और वे वहाँ मुआयने के लिए आये। जहाँ घटना के विरोध में उनके मुँह पर

कालिख पोत दिया गया। गाड़ी की लालबत्ती को तोड़ डाला गया। ए.सी./एस.टी. आयोग के अध्यक्ष के साथ हुई इस घटना को मीडिया ने खूब उछाला, लेकिन घटना के पीछे आम्बेडकर छात्रावास पर फोकस नहीं किया। अध्यक्ष महोदय अपने साथ हुई घटना के पीछे राजनीति को जोड़कर मीडिया को अवगत कराने में पीछे नहीं रहे, लेकिन छात्रावास के हालात पर बात उभकर सामने नहीं आयी।

दलित के साथ यह कोई नयी बात नहीं है कि मीडिया ने मुँह फेर लिया हो और आरा की घटना कोई छोटी घटना नहीं है। दलित छात्र जो शिक्षा का दामन थामकर मुख्यधारा में जुड़ना चाहते हैं, उनके आशियाने को समाज के प्रबुद्ध जाति के लोगों ने उजाड़ दिया। घटना के पीछे जो आक्रोश है, उसे एक तरफ कर दिया जाये और घटना के साथ जुड़ी संवेदनाओं को देखा जाये, तो मीडिया दलित छात्रावास के छात्रों के साथ हुई घटना को रेखांकित करने से पीछे रहा।

बिहार के मीडिया में किसी अपराधी या किसी व्यक्ति की हत्या से जुड़ी ख़बर जगह पाती है, मीडिया मृतक और उसके परिवार पर लगातार कई दिनों तक संवेदनाओं से जोड़कर ख़बरों को शब्दों में पीरोकर इमोशनल ब्लैकमेल करने की जी-तोड़ कोशिश करता है। तो वहीं दलितों के मुद्दों पर मीडिया की खामोशी पल्ले नहीं पड़ती। इसे क्या समझा जाए? मीडिया जाति के दायरे में है? मीडिया को जाति चलाती है? कहने में परहेज नहीं है, आँकड़े बताते हैं, हालात बताते हैं, ख़बरें बताती हैं और ख़बरों के आगे-पीछे की सच यह बयां करती है कि अख़बारों के पन्ने, टी.वी. के स्क्रीन दलितों के लिए नहीं हैं, वह हैं तो सिर्फ़ सवर्णों के लिए।

(बयान, अगस्त 2012, में प्रकाशित)

सोशल मीडिया पर दलित विरोध

इन दिनों सोशल मीडिया पदोन्नति के सवाल पर एक पोस्ट खूब इधर-उधर कुलांचे मार रही है, जो सरकार की ओर से अनुसूचित जाति-अनुसूचित जनजाति को दिये जाने वाले आरक्षण व्यवस्था पर सवाल उठाते हुए व्यवस्था के विरोध में खड़े होने को लेकर कार्टून है। एक नल से निकले सारे पानी को सूटेट-बूटेट एससी-एसटी व्यक्ति के मुँह में जाते हुए दिखाया गया है और मरियल सामान्य वर्ग के व्यक्ति को नल से टपकते पानी के बूँद को पीते दिखाया गया है। लोगों से अपील किया जा रहा है कि आप इस व्यवस्था से नाखुश हैं, तो शेयर करें। यानी, विरोध में खड़े हो जायें। देखें एक बानगी–

‘आरक्षण हटाने की खातिर बस अब एक जुनून चाहिए!
जिसमें हो उबाल, ऐसा खून चाहिए!
ये आसमान भी आवेगा ज़मीन पर!
बस इरादों में जीत की गूँज़ चाहिए!
दोस्तों अभी नहीं, तो कभी नहीं!
आरक्षण हटाओ देश बचाओ!’

‘जिस दिन हम सभी आरक्षणविरोधी फेसबुक छोड़कर सड़क पर एक साथ खड़े हो जाएंगे, उस दिन आरक्षण सिर्फ़ रेल में रह जाएगा, यात्रा करने के लिए!’

‘ब्रेकिंग न्यूज! पदोन्नति में आरक्षण पाकर चूहा बना जंगल का राजा! शेर अब चूहे को सलाम करेगा! (देखें- फेसबुक All India Anti Reservation Front)

दलित-पिछड़ा आरक्षण विरोधी ऐसे नारों से सोशल मीडिया पटा पड़ा है। साथ ही

कई तस्वीरों से लोगों को आरक्षण के विरोध में भ्रमित करने की पूरजोर कोशिश की जा रही है। तस्वीरों में ऐसा दिखाया जा रहा कि सामान्य वर्ग के हिस्से में कुछ भी नहीं बच रहा है, जबकि वास्तविकता यह है कि देश में इनकी जनसंख्या लगभग सोलह प्रतिशत ही होते हुए भी आरक्षण में सामान्य वर्ग के हिस्से पचास प्रतिशत से अधिक चीज़ें बची रहती हैं।

यह देश का दुर्भाग्य है कि सवर्णों की जनसंख्या लगभग सोलह प्रतिशत ही है और शेष दलित-आदिवासी-पिछड़े हैं, बहुसंख्य होते हुए भी हर क्षेत्र में, दलित-आदिवासी-पिछड़े हाशिये पर हैं। सरकारी स्तर पर जब भी आरक्षण का सवाल सामने आता है, तो द्विजों के बीच कोहराम मच जाता है। इस कोहराम की गूँज़ मीडिया में भी सुनायी पड़ती है और दलित-पिछड़ों के खिलाफ़ गोलबंदी शुरू हो जाती है। यह सब न्यू मीडिया, यानी सोशल मीडिया पर भी जारी है।

आरक्षण को लेकर इन दिनों सोशल मीडिया में हंगामा बरपा है। आरक्षण विरोधी एकाउंट फेसबुक पर दर्जनों हैं, जो आरक्षण विरोधी संदेश-फोटो के साथ दलित-पिछड़ों के खिलाफ़ मोर्चा खोले हुए हैं। हक़मारी की बात की जाती है। योग्यता व शिक्षा की दुहाई दी जाती है, लेकिन वर्षों से हाशिये पर रहे दलित-पिछड़ों को अपने बराबर रखने की वकालत करते नहीं दिखते हैं। देखें, आल इंडिया आरक्षण विरोधी फ्रंट का यह संदेश–

'राजनीति की आड़ में आरक्षण के नाम पर हो रहे, सामान्य वर्ग के साथ अन्याय का विरोध करें। सबसे कुशल और कुशाग्र बुद्धि, दक्ष कार्य-कुशलता और अथक परिश्रम करने वाला योग्य व्यक्ति भी यदि आरक्षण के कारण राष्ट्र-निर्माण में सहयोगी न बन पाये, तो उस देश का क्या होगा?

आरक्षण के कारण जो निम्न योग्यता के पात्र हैं, वे जब उच्च योग्यता के पात्रों की जगह लेंगे, तो सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति तो हो नहीं सकती, अतः प्रतियोगिता में जो श्रेष्ठ हों, वो ही सर्वोपरी और सर्वमान्य होना चाहिए, यदि राष्ट्र-निर्माण में इस प्रकार के षड्यंत्र खेले जाएंगे, तो क्या इस राजनीति को राष्ट्र-द्रोह की संज्ञा में नहीं लाना चाहिए? क्योंकि इस प्रकार की राजनीति, जो की एक अनीति है। यह धर्म, जाति, राष्ट्र आदि को जोड़ना नहीं, अपितु तोड़ने का कार्य कर रही है।

आरक्षण शिक्षा हेतु होना चाहिए ...और उससे भी श्रेष्ठ होगा कि शिक्षा सभी के लिए मुफ़्त हो और उपलब्ध हो और सर्वोत्तम कोटि की हो। जितना धन आरक्षण के नाम पर व्यर्थ लगाया जाता है, उतना धन शिक्षा हेतु संसाधनों और सुविधाओं को बेहतर बनाया जाये...(Infrastructur Development for Education Model) जब निजी संस्थान उच्चतम तकनीकों द्वारा शिक्षा उपलब्ध करवा सकते हैं, तो ये सरकार क्यों नहीं? राजनीति नीति के लिए होती है, अनीति के लिए नहीं, आपका क्या कहना है? जय हिन्दू राष्ट्र! जय श्री राम कृष्ण परशुराम ॐ (देखें– फेसबुक। All India Anti

Reservation Front)

उपरोक्त संदेश में 'आरक्षण शिक्षा हेतु होना चाहिए ...और उससे भी श्रेष्ठ होगा कि शिक्षा सभी के लिए मुफ़्त हो और उपलब्ध हो और सर्वोत्तम कोटि की हो...' की बात की गयी है। उत्तम विचार है! लेकिन सवाल उठता है कि हक़ीक़त में शिक्षा समान है क्या? देश में चल रहे अमीरों के व सरकारी स्कूलों पर नज़र डालने से वस्तुस्थिति अपने आप साफ़ हो जाएगी। हाँ, अमीरों के स्कूलों को सरकारी में तब्दील कर दिया जाये ओर स्कूल के सारे भेद ख़त्म कर दिये जायें, तो जो फ़ासला है, वह ख़त्म हो जाएगा और योग्यता का सही आकलन संभव हो पाएगा। आरक्षण के खिलाफ़ जहाँ शब्दों के वाण चलाये जा रहे हैं, वहीं पर फोटो/कार्टून को सोशल मीडिया पर डाला जा रहा है। संदेश व फोटो/कार्टून पर आने वाले कमेंट और इसकी बानगी देखने से साफ़ पता चलता है कि दलित-आदिवासी-पिछड़ा को तथाकथित आरक्षण विरोधी समाजिक बराबरी नहीं देना चाहते हैं।

कार्टून चरित्र, टॉम एंड जेरी के माध्यम से 'जातिगत आरक्षण हटाओ देश बचाओ' का नारा बुलंद करते हुए दर्ज़नों कार्टून सोशल मीडिया पर पोस्ट व शेयर किये जा रहे हैं। एक कार्टून में जेरी को टॉम के हाथ से आरक्षण फ़ायदे को लेकर भागते दिखाया गया है और गुस्से में टॉम कहता है, 'इस आरक्षण की वजह से तूने मुझे बहुत परेशान किया, अब मैं इस आरक्षण को समाप्त करके ही रहूँगा।'

फोटो/कार्टून के जरिये भ्रम फैलाने का काम जारी है। एक तस्वीर में भविष्य में होने वाले परीक्षा का चित्रण किया गया है। सामान्य वर्ग के लिए 100 सवाल हल करने हैं, जबकि ओ.बी.सी. के लिए 50, एस.सी. के लिए सिर्फ़ सवाल पढ़ने और एस.टी. के लिए परीक्षा हॉल में आने के लिए 'थैंक्स' कहा गया है। ऐसे दर्जनों फोटो/कार्टून सोशल मीडिया पर रोजाना डाले जा रहे हैं। आरक्षण के खिलाफ़ संदेश फोटो/कार्टून पर दर्जनों कमेंट भी तथाकथित आरक्षण विरोधियों की ओर से पोस्ट किये जा रहे हैं।

इसमें दो मत नहीं कि सोशल मीडिया आज एक ताकतवर मीडिया के रूप में तेज़ी से फैलाव पा रहा है, लेकिन विचारों के आदान-प्रदान के साथ ही साथ समाज के अंदर एक सार्थक सोच दे पाने में यह असफल साबित हो रहा है। सोशल मीडिया, जो समाज को जोड़ने के लिए है, वह समाज का तोड़ता दिखता है। वहीं पर जातिगत आरक्षण हटाने और देश को बचाने का नारा तो दिया जा रहा है, लेकिन जाति हटाने को लेकर कोई आंदोलन सोशल मीडिया

पर नहीं दिखता। आरक्षण नहीं होना चाहिये, वंचितों को बराबरी न मिले, इसे लेकर गोलबंदी दिखती है, लेकिन जाति तोड़ने की बात नहीं होती। न कोई दलित होगा और न कोई सवर्ण। यानी, आदमी की पहचान, जाति से नहीं हो! जाति को छोड़ने के नाम पर द्विजों के हाथ-पाँव फूलने लगते हैं, बल्कि आरक्षण का विरोध और तथाकथित आरक्षण विरोधियों की ताकत का इज़हार सर चढ़ कर बोलता दिखता है। जिसमें जातिवाद की बू आती है। एक पोस्ट में शहीद चंद्रशेखर आज़ाद की तस्वीर के साथ लिखा गया कि

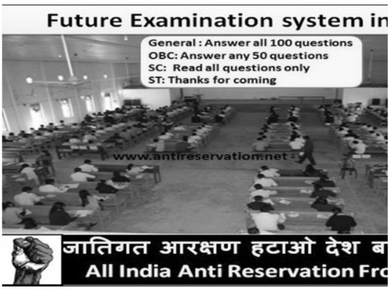

'ब्राह्मण मचलते हैं, तो देश मचल जाता है
ब्राह्मण बिगड़ते हैं, तो भूचाल आ जाता है
ना करो कोशिश ब्राह्मण को बदलने कि
क्योंकि ब्राह्मण बदलते हैं, तो इतिहास बदल जाता है'

–इन आरक्षण विरोधियों की नज़र ने शहीद चंद्रशेखर आजाद को एक देशभक्त से केवल एक जातिगत नेता बना के रख दिया। क्या यह देशद्रोह नहीं? यह सच है कि आरक्षण का सबसे ज्यादा विरोध तथाकथित आरक्षण विरोधी सवर्णों की ओर से हो रहा है। आरक्षण का विरोध करने वाले इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि आज़ादी के 65 साल बाद भी दलितों की भागीदारी नौकरशाही में शीर्ष पर नहीं है। हाल ही में मीडिया में आयी ख़बर में इस बात का खुलासा हुआ कि केंद्र सरकार में एक भी दलित सचिव नहीं है। नौकरशाही में शीर्ष स्तर पर तीन फीसदी से भी कम एस.सी.-एस.टी. का प्रतिनिधित्व है। यह आँकड़ा चौंकाता है और सोशल मीडिया पर आरक्षण के नाम पर सरकारी नौकरी से वंचित होने का जो भ्रम फैलाने की कोशिश की जा रही है, उसका जवाब है। आँकड़ों के अनुसार इस समय केंद्र के सभी विभागों और मंत्रालयों में एक सौ उन्चास सचिव हैं, जिनमें एक भी सचिव अनुसूचित जाति से नहीं है, जबकि अनुसूचित जनजाति के महज दो सचिव हैं।

ऐसे में सरकारी नौकरी में आरक्षण का फ़ायदा देकर वंचितों को देश-समाज की मुख्य धारा से जोड़ने की कोशिश हो रही है, तो

उसका विरोध क्यों? बल्कि स्वागत होना चाहिये, ताकि वर्षों से समाज में फैला बराबरी-ग़ैरबराबरी का फासला मिट सके।

देखा जाये तो सालों से ग़ैरबराबरी का मसला आज भी बरकरार है। महान चिंतक ज्योतिबा फुले ने अपनी पुस्तक 'गुलामगीरी' में वर्षों से जाति विशेष द्वारा दूसरी जाति के लोगों को गुलाम बनाने का खुलासा किया है और लिखा है कि 'लगभग तीन हजार साल से भी ज्यादा समय से भारत में ब्राह्मण-पुरोहितों की सत्ता कायम है। वे लोग विदेश से यहाँ आये थे। उन्होंने इस देश के मूल निवासियों पर बर्बर हमले करके उनको अपना गुलाम बना लिया था और इनके साथ बड़ी अमानवीयता का सलूक किया। बाद में 'सैकड़ों सालों के बाद जब ब्राह्मणों को यह लगा कि लोगों के जेहन में यह बात अब नहीं रह गयी है कि हम लोग विदेशी हैं तथा हमने यहाँ के मूल निवासियों के घर-बार, ज़मीन-जायदाद छीनकर उनको अपना गुलाम बना लिया है, तब उन्होंने इस बात के सारे प्रमाणों को नष्ट कर दिया।' (देखें– गुलामगीरी, महामना ज्योतिबा फुले की पुस्तक) यह व्यवस्था अपरोक्ष रूप से आज भी कायम दिखती है। तथाकथित आरक्षण विरोधी सवर्ण वर्षों से शिखर पर हैं और दलित-पिछड़े आज भी उनके बराबर नहीं पहुँच पाये हैं। भारतीय समाज में वर्षों से कायम बराबरी एवं ग़ैरबराबरी को पाटने के लिए तथाकथित आरक्षणविरोधी सवर्ण वर्ग की ओर से कोई पहल नहीं हुई दिखती है, जबकि सरकारी पहल होते ही हंगामा शुरू हो जाता है

(वेब पत्रिका 'जनज्वार' में 17 सितम्बर 2012 को प्रकाशित)

मीडिया भी जाति देखता है

जुलाई 2006 के 'हंस' में 'कसौटी' के तहत प्रकाशित मुकेश कुमार के आलेख 'मीडिया तुम्हारी जात क्या है?' पर तुषारकांत का हस्तक्षेप के अंतर्गत मार्च, 2007 के अंक में 'मीडिया जाति नहीं, बाज़ार देखता है' आलेख पढ़ने को मिला। जवाब पढ़ कर ऐसा लगता है कि तुषारकांत जी को मीडिया के बारे में कुछ अता-पता नहीं है या फिर वे 'हंस' या फिर कोई पत्र-पत्रिकाएं अक्सर नहीं पढ़ते हैं। मुझे तो लगता है कि वे सवर्ण जाति समर्थक हैं, जो मुकेश जी के आलेख को पचा नहीं पाये। उन्हें मालूम होना चाहिए कि प्रख्यात पत्रकार अनिल चमड़िया, शोधकर्ता जितेन्द्र कुमार और योगेन्द्र यादव ने राष्ट्रीय मीडिया के अंदर जातीय पृष्ठभूमि का सर्वे कर सभी को चौंका दिया था। यही नहीं मीडिया पर काबिज सवर्णों की जो तस्वीर उन्होंने पेश की, तो मीडिया जगत हिल-सा गया। तुषारकांत जी को पता है कि मीडिया में नौकरी कैसे मिलती है? शायद नहीं। तुषारकांत जी ने मुकेश जी के लिए लिखा है कि 'मीडिया दलित विरोधी है, मीडिया पिछड़ा विरोधी है, मीडिया मनुवादी है, मीडिया ने आरक्षण-विरोध को हवा दी...' आदि बातें बड़ी ही तल्ख भाषा में लिखी हैं, जो लेखक के अंदर के रोष को प्रकट करती हैं।

सच है, 'मीडिया दलित विरोधी है, मीडिया पिछड़ा विरोधी है, मीडिया मनुवादी है, मीडिया ने आरक्षण-विरोध को हवा दी है।' अगर मुकेश जी ने रोष में ही सही लिखा है, तो इसमें गलत क्या है? तुषारकांत जी को पच क्यों नहीं रहा है? जो तस्वीर सामने है, उससे मुँह नहीं मोड़ा जा सकता है। दलित, पिछड़ा और आरक्षण को मीडिया ने कितनी अहमियत दी है, यह सब जानते हैं। राष्ट्रीय मीडिया के अंदर के सर्वे से दलित

और पिछड़ों के प्रति मीडिया के जाति प्रेम की पोल ही खुलती है और यह प्रेम ज़मीनी तौर पर दिखता है। तुषारकांत जी अगर छाती पर हाथ रख कर यह कह दें कि जाति की बात बकवास है, तो भी कोई इसे पचा नहीं पाएगा।

आज़ादी के बाद भी जातिवाद का समीकरण हर जगह मौजूद है। आज भी एक मेहतर और उसके परिवार का कोई-न-कोई सदस्य सर पर मैला ढोने का कार्य करता है। ढूँढ़ने पर शायद ही कोई सवर्ण जाति का मिले, जो सर पर मैला ढोने का कार्य करता हो। यह अलग बात है कि दलित आज सरकारी नौकरी पा रहे हैं। सवाल मीडिया का है, जो सर्वे ने पोल खोल दी है। आपको याद होगा कि कुछ वर्ष पूर्व बिहार के एक दैनिक पत्र के संपादक के जाति प्रेम को लेकर एक पत्रिका ने ख़बर छाप दी थी कि किस तरह से संपादक ने प्रशिक्षु पत्रकारों में सवर्ण जाति के पत्रकारों को छोड़कर दलित और पिछड़े पत्रकारों को निकाल दिया था। उनमें कई ऐसे पत्रकार थे, जो सवर्ण जाति के पत्रकारों से बेहतर थे।

मीडिया के क्षेत्र में सक्रिय लोग साफ़-साफ़ जानते हैं कि जब कोई नया संपादक पत्र-पत्रिका में आता है, तो अपने साथ कुछ पत्रकारों को साथ में लाता है और यह उनकी जाति पर निर्भर करता है। इसे मानें या न मानें, आज मीडिया पर सवर्णों का कब्ज़ा है और फ़ैसला लेने का अधिकार भी। सवाल यह भी उठता है कि आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी मीडिया में दलित-पिछड़ों की भागीदारी सवर्णों की तुलना में नहीं के बराबर क्यों है? अब तुषारकांत जी यह न कहें कि किसने आने से रोका है और प्रतिभा को रोका नहीं जा सकता है। तो मीडिया के अनुभव के पुख़्ता आधार के तहत मेरा मानना है कि कृपया गलथोथरी न करें और मीडिया के अंदर झाँकें, नौकरी पाने के जुगाड़ शब्द पर जरूर ध्यान दें। जोरदार शब्दों में मैं इस बात की वकालत करता हूँ कि दलित-पिछड़े अभी भी मीडिया में जुगाड़ शब्द के अंतिम छोर पर हैं।

तुषारकांत जी ने आरक्षण और राजनीति को भी उठाते हुए सफ़ाई से मुकेश जी को विद्वान बताते हुए आरक्षण को ही खारिज़ करने का प्रयास किया है। खैर, आरक्षण पर बहस नहीं करना चाहता। बस इतना ही कहना है कि दलित-पिछड़ों को समाज में वह भागीदारी चाहिए, जो सवर्णों ने सदियों से पाया है। जहाँ तक आरक्षण और मीडिया का सवाल है, तो मीडिया ने जमकर आरक्षण विरोध को हवा दी। आरक्षण समर्थन की ख़बरों को आरक्षण आंदोलन के दोनों दौर में दबाया गया। ख़बरों को कैसे मैनेज किया गया, यह आपको भी पता है। 50 लोगों के एक गुट को मीडिया ने व्यापक बताते हुए मुख्य पृष्ठ पर छापा, तो वहीं समर्थन की ख़बरों को अंदर के पेजों में ऐसे छापा गया, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। इस दोहरे चरित्र को आप क्या कहेंगे? प्रिंस की घटना का ज़िक्र कर मीडिया ने अपने आरक्षण विरोधी प्रेम को ढँकने का प्रयास किया है। शायद आपको उन दलित-पिछड़े पत्रकारों से भेंट नहीं है, जो अख़बारों में उस घुटन भरे हालात में काम कर रहे हैं, जो उन्हें रोजाना जाति द्वेष झेलना पड़ता है। मेरे एक मित्र

जो एक राष्ट्रीय पत्र में पेज-एक के प्रभारी थे, जब आरक्षण-दो के समर्थन में ख़बर आयी, तो उसे यह कहकर पत्र के सवर्ण संपादक ने रोकवा दिया कि इसमें नया कुछ नहीं है। वहीं विरोध की ख़बर को प्राथमिकता के साथ लगाने का आदेश दिया। यह किसी एक पत्र की बात नहीं है, अंदर झांके तो स्थिति साफ़ हो जाएगी। प्रिंस, बुधिया और सुरेश जैसे ख़बरों का प्रतिशत कितना है। प्रिंस गड्ढ़े में एक दिन फंसा, यहाँ फुटपाथ पर रोज़ाना हजारों प्रिंस दम तोड़ते मिलेंगे। तुषारकांत जी, देश-विदेश सभी ने प्रिंस के साथ-साथ मिका-राखी, मटूक-जूली को भी तो घंटो देखा था। उसे आप क्या कहेंगे? बाज़ारवाद प्रेम न?

तुषारकांत जी ने लिखा है कि 'बिहार में लालू जी का पंद्रह वर्ष तक एकछत्र राज चला। कहा जाता है कि एक सवर्ण वरिष्ठ नौकरशाह से वे वक़्त-बे-वक़्त खैनी रगड़वाया करते थे। ऐसे बहुत सारे सवर्णों के झूठे अहं को राख किया गया है।' माफ़ कीजिये तुषारकांत जी, आप कहना चाहते हैं कि लालू जी ने बदला ले लिया? या फिर आपको केवल लालू जी की यही बात दिखी। पर यह नहीं दिखा कि जिन सवर्ण का आपने उदाहरण पेश किया है, वे खुद वर्षों से घर और दफ़्तर में दलित-पिछड़े कर्मचारियों से जूठे बर्तन और अन्य काम करवाते रहे हैं?

मुकेश जी ने राजनीतिक भड़ास नहीं निकाला है, बल्कि उन्होंने मीडिया के अंदर की सच्चाई को नंगा किया है। जाहिर है, नंगेपन से चिढ़ तो होगी ही, क्यों? रही बात तथ्यों और तर्कों की, तो क्या दलित-पिछड़ा पत्रकार अपनी नौकरी को हाशिये पर रख कर अंदर के सच को उजागर कर सकते हैं? कौन है जो आज जाति नहीं देखता? बाज़ारवाद की गिरफ़्त में मीडिया भी जाति देखता है और जहाँ तक बाज़ारवाद की बात है, तो वह अपनी जगह पर है।

(बयान, सितम्बर 07 में प्रकाशित)

संदर्भः

1. हंस, जुलाई 2006 'कसौटी' के तहत प्रकाशित मुकेश कुमार का आलेख 'मीडिया' तुम्हारी जात क्या है?
2. हंस, मार्च 2007 हस्तक्षेप के प्रकाशित तुषारकांत का आलेख 'मीडिया जाति नहीं, बाज़ार देखता है।'

काले धंधे के रक्षक

मीडिया में जाति को लेकर राष्ट्रीय सर्वे आया, तो जमकर मीडिया के अंदर व बाहर धमार मचा। विरोध के स्वर फूटे। मीडिया के दिग्गजों ने अपने-अपने तर्क से बहस को आगे बढ़ाया। विरोध के स्वरों में पत्रकार प्रमोद रंजन ने आगे बढ़कर बिहार में मीडिया के जातिगत चेहरे को बेनकाब करते हुए एक पुस्तिका निकाल दी। चर्चा छिड़ी। छींटे इधर-उधर पड़े। बड़े-छोटे पत्रकारों ने जवाब भी दिया। पत्रकारिता में मील का पत्थर माने-जाने वाले प्रभाष जोशी का भी जवाब आया। हालाँकि, उस वक्त जोशी जी ने 'पेड न्यूज' को लेकर मोर्चा खोल रखा था। यहाँ चर्चा मीडिया में जाति को लेकर है, तो ऐसे में इस महत्वपूर्ण बहस को ज्यों का त्यों पाठकों के आंकलन के लिए रखा जा रहा है। 'काले धंधे के रक्षक' शीर्षक से प्रभाष जोशी ने 'जनसत्ता' में लेख लिखा और प्रमोद रंजन को जवाब दिया। प्रभाष जोशी जी ने क्या कहा, देखिये-

''चलो, कोई तो मैदान में उतरा। न सही लोकसभा चुनाव जैसे नाजुक और निर्णायक मौक़े पर काला धन लेकर चुनावी विज्ञापन को ख़बर बनाकर बेचने वाला अख़बार मालिक, उसका संपादक या जनरल मैनेजर। कोई प्रमोद रंजन ही सही, जिनका मानना है कि विज्ञापन को ख़बर बनाकर बेचने से ज्यादा बुरा और ख़तरनाक, तो पत्रकारिता में जाति धर्म और मित्र धर्म का निर्वाह है, क्योंकि इससे मूल्यों में ऐसे भयावह क्षरण से नुकसान दलित-पिछड़ों की राजनीतिक ताकतों, वाम आंदोलनों और प्रतिरोध की उन शक्तियों का भी हुआ है, जो इसके प्रगतिशील तबक़े से नैतिक और वैचारिक समर्थन की उम्मीद करते हैं। मीडिया के ब्राह्मणवादी पूँजीवाद ने इन्हें उपेक्षित, अपमानित और दिग्भ्रमित भी किया है। प्रमोद रंजन का यह भी निष्कर्ष है कि काले

धन से ख़बरों के पैकेज बेचने-खरीदने से कुछ नहीं होता, क्योंकि वोट देने वाली जनता समझ गयी है कि इन अख़बारों की कोई विश्वसनीयता नहीं है। काले धन से इन अख़बारों में ख़बरें छपवाने वाले अक्सर हार जाते हैं, लेकिन जो लोग जाति धर्म और मित्र धर्म निबाहते हुए विश्वास का धंधा कर रहे हैं, वे ज्यादा बड़ा नुकसान कर रहे हैं, क्योंकि वे दलित-पिछड़ों, वाम आंदोलनों और प्रतिरोध की शक्तियों को अपमानित, उपेक्षित और दिग्भ्रमित करते हैं। अब पैकेज के काले धंधे को इनने बुरा मान लिया है, इसलिए इसे अपना समर्थन मानकर मुझे संतोष कर लेना चाहिए। लेकिन इससे भी बुरा इन्होंने पत्रकारिता में जाति धर्म और मित्र धर्म को बताया है। और उदाहरण के नाम पर 'प्रभात ख़बर' के प्रधान संपादक हरिवंश और पत्रकार-लेखक सुरेंद्र किशोर की टिप्पणी को उद्धृत किया है।

हरिवंश कोई पैंतीस साल से मेरे मित्र हैं और सुरेंद्र किशोर ने 'जनसत्ता' की शुरुआत से रिटायर होने तक एक विश्वसनीय और प्रामाणिक पत्रकार की तरह काम किया है। इसलिए आइये पहले पत्रकारिता में जाति और मित्र धर्म और ब्राह्मणवादी पूँजीवाद को लें। हरिवंश जे.पी. आंदोलन से कुछ पहले से मेरे मित्र हैं। बाकी उनका मेरे साथ जाना भी कोई बड़ी बात नहीं है। बीसियों सभाओं-सम्मेलनों, आंदोलनों और संघर्षों में वे मेरे साथ गये हैं। उनकी सोहबत मुझे प्रिय और महत्त्वपूर्ण लगती है। जो वरिष्ठ पत्रकार दिग्विजय सिंह का मीडिया प्रबंधन कर रहे थे, वे हम दोनों के मित्र हैं। उन्होंने डायरी भी लिखी है, यह मुझे दिल्ली में पता चला, जब मैं अपने अभियान के लिए सामग्री और सबूत जुटा रहा था। बाकी अकेली जगह नहीं थी, जहाँ मैं इस चुनाव के दौरान गया। हिंदी इलाक़े के हर राज्य में पत्रकारों से बात करके मैंने सामग्री ली। हरिवंश अपना लेख 'ख़बरों का धंधा' पहले 26 मार्च को ही लिख चुके थे, जिसकी आख़िरी लाइन थी- 'विज्ञापन और ख़बरें दो चीज़ें हैं। जिन चीज़ों के साथ स्पांसर्ड, प्रायोजित, मार्केटिंग मीडिया इनिशियेटिव लिखा होगा, वे विज्ञापन होंगे। हम ख़बर की शक्ल में विज्ञापन नहीं छापेंगे।' हरिवंश ने यह एक लेख ही नहीं, दो और लेख, एक पाठक का पत्र भी पहले पेज पर छापा। उनने चुनाव कवरेज की अपनी आचार संहिता भी खूब बड़ी छापी। इसमें नाम-पता देकर पाठकों से कहा कि इसका उल्लंघन हो रहा हो, तो तत्काल शिकायत कीजिए। चुनाव के बाद 11 मई को उनने फिर 'ख़बरों का धंधा-2, फिर पाठकों के द्वारा' शीर्षक से लेख लिखा, जिसमें एक पाठक की शिकायत को अपने पूरे कवरेज और आचरण से जाँचा। किसी भी हिंदी अख़बार ने न ऐसा अभियान चलाया, न पाठकों के सामने ऐसी जवाबदेही दिखायी।

लेकिन नयनसुख प्रमोद रंजन को न यह दिखा और न इस पर उन्होंने विश्वास किया। क्यों? (यह बताऊँगा, तो बहस पटरी से उतर जाएगी) अभी यही कि 'प्रथम प्रवक्ता' के 16 जुलाई के अंक में उस पत्रिका के झारखंड ब्यूरो की रिपोर्ट बताती है 'प्रभात ख़बर' में भी ख़बरें उसी की ज्यादा छपीं, जिसने विज्ञापन ज्यादा दिया। वहाँ

अघोषित नियम बनाया गया कि जो पैसा देगा, उसको कवरेज मिलेगा। प्रमोद रंजन को ये दो लाइनें 'प्रभात ख़बर' के तीन महीने के कवरेज अभियान और पाठकों से खुली जवाबदेही को सिरे से खारिज करती क्यों लगती है, इसका भी जवाब दूँगा तो दलित-पिछड़ों और वाम आंदोलनो की बड़ी क्षति होगी। इसलिए फिलहाल सिर्फ़ मित्र धर्म पर। 'प्रथम प्रवक्ता' का वह अंक, जिसे प्रमोद रंजन ने मेरे निर्देशन में निकला कहा है, उसकी पैकेज वाली सारी सामग्री राम बहादुर राय ने मेरे पास भेजी। उसी के आधार पर इस पत्रिका में मैंने लेख लिखा और उस पूरी सामग्री को मैंने संपादित किया।

झारखंड ब्यूरो की रपट की वे दो लाइनें मेरी जानकारी और लिखे के विरुद्ध थी। उनको न तो सबूत और पदार्थ के साथ पुष्ट किया गया था, न उनका विश्लेषण। मैं जो प्रमोद रंजन के कहे 'मित्र धर्म' निबाहता हूँ, मैंने ही वे लाइनें संपादित करके बाहर क्यों नहीं की? क्योंकि मैं स्वभाव से संवाददाता पर भरोसा और अपने से भिन्न राय की कदर करता हूँ। और मेरा मित्र धर्म तो ठीक है, 'प्रथम प्रवक्ता' के संपादक राम बहादुर राय तो हरिवंश के और भी गहरे और पुराने मित्र हैं। अपनी पत्रिका में उन्होंने ये दो लाइनें क्यों जाने दी? मित्र धर्म क्यों नहीं निभाया? यह तो खुली प्रमोद रंजन के मित्र धर्म के आरोप से तात्कालिक संदर्भ की पोल। यह भी झूठ है कि सभी अख़बार मीडिया इनिशिएटिव लिख रहे थे। मैंने इन अख़बारों की जो प्रतियाँ प्रेस परिषद को जाँच के लिए दी है, उनमें कुछ भी नहीं लिखा है। और ऐसे इनिशिएटिव के बारे में क्या सोचता हूँ, वह भी एक लेख में लिख चुका हूँ। मैंने एक नहीं, चार लेख लिखे हैं, पर छोड़िए तात्कालिक संदर्भ। मैं लगभग पचास साल से पत्रकारिता कर रहा हूँ। कम से कम पाँच प्रधानमंत्री मेरे बड़े मित्र थे। चंद्रशेखर सबसे बड़े और पुराने, फिर अटल बिहारी वाजपेयी, फिर नरसिंह राव और विश्वनाथ प्रताप सिंह। इनके खिलाफ मैंने क्या-क्या और क्या नहीं लिखा है। दर्ज़न भर मुख्यमंत्रियों से मेरी बड़ी मित्रता रही। उन पर जो लिखा, वह भी सब छपा है। अपनी रतौंध दूर करना चाहें, तो पच्चीस साल की 'जनसत्ता' की फ़ाइलें दफ़्तर में मौजूद हैं। और यह भी ख्याल रखें कि अख़बार मित्र की प्रशंसा और आलोचना के लिए ही नहीं होते। उनका एक व्यापक सामाजिक धर्म भी होता है। वह दलित-पिछड़ों की राजनीतिक ताकतों, वाम आंदोलनों और प्रतिरोध की शक्तियों का भी आँकलन माँगता है और जिसकी जैसी करनी, उसको वैसी ही देने से पूरा होता है, लेकिन वह भी बाद में। अभी अपन ब्राह्मणवाद देख लें। 'जनसत्ता' की पहली टीम में एक अच्छेलाल प्रजापति हुआ करते थे। कुछ ही महीने काम करके, वे कोलकात्ता गये। वहाँ से ख़बर आयी कि उनने कहा कि 'जनसत्ता' में तो बड़ा ब्राह्मणवाद चल रहा है। मैं तब डेस्क पर साथियों से मिलकर पहला संस्करण निकाल रहा था। निकल गया, तो सबको इकट्ठा करके हमने इस मनोरंजक ख़बर का मजा लिया। फिर मेरे सुझाव पर पूरी टीम की जातिवादी मर्दुमशुमारी की गयी। ब्राह्मण ज्यादा थे। मैंने कहा– देख लो, अपने ही एक टीम साथी ने आरोप लगाया है। अब

हमें ठीक से काम करना है। हम सब हँसे, क्योंकि अच्छेलाल प्रजापति भी उसी प्रक्रिया से 'जनसत्ता' में आये थे, जिससे बाकी थे। 'जनसत्ता' हिंदी का पहला अख़बार है, जिसका पूरा स्टाफ संघ लोक सेवा आयोग से भी ज्यादा सख्त परीक्षा के बाद लिया गया। सिवाय बनवारी के, मैं किसी को भी पहले से जानता नहीं था। बहुत सी अर्ज़ियाँ आयी थीं, उनमें सैकड़ों छाँटी गयीं। कई दिनों तक लिखित परीक्षाएं चलीं, घंटों लंबी। वे बाहर के जानकारों से जँचवायी गयीं। उसके अनुसार बनी मेरिट लिस्ट के प्रत्याशियों को इंटरव्यू के लिए बुलाया गया।

इंटरव्यू के लिए भारतीय संचार संस्थान के संस्थापक निदेशक महेंद्र देसाई, प्रेस इंस्टीटयूट के भूतपूर्व निदेशक चंचल सरकार, गाँधीवादी अर्थशास्त्री एल.सी. जैन, 'इंडियन एक्सप्रेस' के संपादक जॉर्ज वर्गीज, मैं और एक विशेषज्ञ। कई दिन तक इंटरव्यू चले। लिखित और इंटरव्यू की मेरिट लिस्ट के मुताबिक़ लोगों को काम करने बुलाया। वेतन और पद उसी से तय हुए। कोई भी किसी की सिफ़ारिश या किसी के रखे नहीं रखा गया। इससे ज्यादा वस्तुपरक और तटस्थ कोई प्रक्रिया हो नहीं सकती थी। हम चुनाव नहीं लड़ रहे थे, जो जाति के वोटों का ख्याल रखते। मंत्रिमंडल नहीं बना रहे थे, जो सबको प्रतिनिधित्व देते। हम नया अख़बार निकालने की ऐसी टीम बना रहे थे– जो हल्की हो, फुर्ती से लग और बदल सकती हो और अपने भविष्य के साथ अख़बार बना सकती हो। कुछ बरस बाद एक अन्नू आनंद ने लिखा कि प्रभाष जोशी देखते नहीं कि 'इंडियन एक्सप्रेस' में कितनी महिलाएं हैं और 'जनसत्ता' में कितनी कम। जब वे मुझे प्रेस इंस्टीट्यूट में मिली, तो मैंने पूछा– आप जानती हैं कि एक्सप्रेस की महिलाएं भी मेरी रखी हुई हैं? और चंडीगढ़ एक्सप्रेस में तो आधी महिलाएं थी। जिस भाषा में से जैसे लोग पत्रकारिता में निकल कर आएंगे, वैसे ही तो रखे जाएंगे। महिला है इसलिए रख लो, तो अख़बार की टीम कैसे बनेगी? एक्सप्रेस की सब महिलाओं में राधिका राय ख़ास थी। उन्हें रात की शिफ़्ट और अख़बार निकालना पसंद था। मैंने संपादक और रामनाथ गोयनका से तय किया था कि राधिका राय को देश की पहली महिला समाचार संपादक बनाएंगे। आजकल वे एन.डी.टी.वी. की मालकिन हैं। उनके यहाँ भी हिंदी में कम और अंग्रेजी में ज्यादा महिलाएं हैं। मीडिया से दलित-पिछड़ों, वाम आंदोलनों आदि के सरोकार बाहर हुए, तो सिर्फ़ इसलिए नहीं कि वहाँ घनघोर बाज़ारवाद और ब्राह्मणवादी पूँजीवाद आ गया है। चौधरी चरण सिंह से लेकर मायावती तक ने दलित-पिछड़ों के हितों को अपनी सत्ता और धन-लालसा में कैसे बर्बाद किया है, पूरा देश जानता है।

वंशवाद और धन के लोभ ने लालू, मुलायम, चौटाला, नीतीश कुमार, अजित सिंह और मायावती को मज़बूत विपक्ष बनने के बजाय बिन बुलाये कांग्रेस समर्थक क्यों बनाया है? क्योंकि सबके कंकाल सी.बी.आई. के पास हैं। और नंदीग्राम और सिंगूर के बाद वामपंथी किस नैतिक और वैचारिक समर्थन के हक़दार है? दलित-पिछड़ों

और वाम आंदोलनों के सरोकारों की दुहाई देकर ख़बरों के बेचने के काले धंधे को माफ़ करना चाहते हो? देखते नहीं कि यह बनिये की ब्राह्मण पर जातिवादी विजय भर नहीं है, जिस पर प्रमोद रंजन जैसे बच्चे ताली बजाएं। यह भ्रष्ट राजनेताओं और पत्रकारिता को काली कमाई का धंधा बनाने वाले मीडिया मालिकों की मिलीभगत है। सबसे ज्यादा यह भ्रष्ट राजनेताओं के हित में है कि मीडिया अपनी तटस्थता, निष्पक्षता और स्वतंत्रता के बजाय दो नंबर की कमाई की रक्षा करे। पैसा फेंक, खबर छपवा। ऐसा मीडिया लोकतंत्र को बचा नहीं सकेगा। दलित-पिछड़ों और वाम आंदोलनों की जरख़रीद लोकतंत्र में कोई पूछ होगी? यह समझ न आता हो, तो अब आओ! कहो कि यह ब्राह्मणवादी प्रभाष जोशी– सती-समर्थक, दलित, पिछड़ा, महिला और मुसलमान विरोधी है। अपन इसका भी जवाब देंगे, लेकिन ख़बरों को बेचने के काले धंधे को रोकने के पुण्य कार्य में फच्चर मत फँसाओ। टिकोगे नहीं!

(देखें जनसत्ता)

जिस प्रमोद रंजन के लिखे का प्रभाष जोशी ने अपने 'कागद कारे' स्तंभ में आज जवाब दिया है, उनकी एक किताब बाज़ार में आयी है। नाम है– 'मीडिया में हिस्सेदारी'। इस किताब ने मीडिया में जातीय हिस्सेदारी पर बहस की शुरुआत की है। प्रमोद रंजन की इस किताब में बिहार में कार्यरत पत्रकारों की सामाजिक और जातीय स्थिति के बारे में विश्लेषण के अलावा भी काफी कुछ है। किताब के संपादन में फिरोज मंसूरी, अशोक यादव, अरविंद, प्रणय, संतोष यादव व गजेंद्र प्रसाद आदि ने सहयोग किया है। ये सभी लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पिछड़ा और दलित चेतना को जाग्रत करने की गतिविधियों से जुड़े रहे हैं। इसी किताब के एक लेख में प्रमोद रंजन ने प्रभाष जोशी और हरिवंश पर कुछ आरोप लगाये हैं, जो मीडिया के अंदर जातीय प्रेम और फ़ायदे की राजनीति को उजागर करता है। आरोप क्या है, क्या है वह लेख, जानने के लिए हम 'विश्वास का धंधा' नामक लेख को 'मीडिया में हिस्सेदारी' किताब से साभार लेकर यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। प्रमोद रंजन ने आखिर क्या लिख दिया है, देखिये-

कानपुर में स्व. नरेंद्र मोहन (दैनिक जागरण के मालिक) के नाम पर पुल का नामकरण उस समय हुआ, जब मैं उत्तर प्रदेश सरकार में मंत्री था। उनके मल्टीप्लेक्स को ज़मीन हमारे समय में दी गयी। जागरण का जो स्कूल चलता है और उनका जहाँ दफ़्तर है, उनकी ज़मीनें हमारे समय में उन्हें मिली। लेकिन यह सब मैंने किसी अपेक्षा में नहीं, अपना मित्र धर्म निभाते हुए किया। फिर भी मेरे साथ ऐसा व्यवहार (ख़बर के लिए पैसे की माँग) हुआ। इतनी निर्लज्जता से चलेंगे, तो कैसे चलेंगे रिश्ते?

—लालजी टंडन, लखनऊ से भाजपा प्रत्याशी

दैनिक जागरण के मालिक को हमने वोट देकर सांसद बनाया था। वे बताएं वोट के

बदले उनने हमें कितना धन दिया था। तब ख़बर के लिए हम धन क्यों दें?

—मोहन सिंह, देवरिया से सपा प्रत्याशी

मैंने ऊषा मार्टिन (प्रभात खबर को चलाने वाली कंपनी) को भी कठोतिया कोल ब्लॉक दिया। प्रभात ख़बर को यह बताना चाहिए कि उसकी शर्तें क्या थी, मैंने उनसे कितने पैसे लिए?

—मधु कोड़ा, झारखंड के पूर्व मुख्यमंत्री

मीडिया पर चुनावों के दौरान पक्षपात के आरोप लगते रहे हैं। इस तरह के आरोप चुनाव हार गये दल और प्रत्याशी लगाते हैं या फिर दलित-पिछड़े नेताओं की ब्राह्मण-बनिया प्रेस से शिकायतें रही हैं। इस तरह की आपत्तियों को खिसियानी बिल्ली का प्रलाप मान कर नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है, लेकिन इस बार क़िस्सा कुछ अलग है। इस बार शिकायत उन नेताओं को भी है, जो चुनाव जीत गये हैं। नाराज वे भी हैं, जो कुछ समय पहले तक इसी मीडिया के ख़ास थे। इसका कारण सीधा है बनिया, ब्राह्मण पर भारी पड़ा है। जो काम रिश्तों के आधार पर होता रहा था, उसके लिए अब अचानक दाम माँगा जाने लगा है। पुल तुम्हारे नाम किया, ज़मीन दी, जनता के वोट से विधान सभा में पहुँचे, तो अपना वोट देकर तुम्हें राज्यसभा में भेजा। आजीवन मित्र धर्म निभाया, तब भी यह अहसान फरामोशी?

वास्तव में यह पहली बार नहीं था, जब चुनाव के दौरान अख़बारों ने पैसा लेकर ख़बर छापी हो। पहले यह पैसा पत्रकारों की जेब में जाता था। अखबारों के प्रबंधन ने धीरे-धीरे इसे संस्थागत रूप देना शुरू किया। तथ्यों के अनुसार, छत्तीसगढ़ में वर्ष 1997 के विधानसभा चुनाव से इसकी शुरुआत हिंदी के दो प्रमुख मीडिया समूहों ने की थी। उस चुनाव में 25 हजार रुपये का पैकेज प्रत्याशी के लिए तय किया गया था, जिसमें एक सप्ताह की दौरा-रिपोर्टिंग, तीन अलग-अलग दिन विज्ञापन के साथ मतदान वाले दिन प्रत्याशी का इंटरव्यू प्रकाशित करने का वादा शामिल था। उसके बाद के सालों में हिमाचल प्रदेश, पंजाब, चंडीगढ़, हरियाणा, राजस्थान आदि में चुनावों के दौरान यह संस्थागत भ्रष्टाचार पैर पसारता गया। उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे राजनैतिक रूप से सचेत राज्यों में अख़बारों को इस मामले में फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ा। संस्थागत रूप (जिसमें पैसा सीधे प्रबंधन को जाता है) से उत्तर प्रदेश में अख़बारों ने पहली बार उगाही वर्ष-2007 के विधानसभा चुनाव में की। वैश्विक आर्थिक मंदी के बीच वर्ष 2009 के लोकसभा चुनाव में उगाही की यह प्रणाली बिहार पहुँची। इस चुनाव में बिहार-झारखंड में 'हिंदुस्तान' ने बिकी हुई खबरों के नीचे 'एच.टी. मीडिया इनिशिएटिव' लिखा, तो 'प्रभात खबर' ने 'पी.के. मीडिया इनिशिएटिव'। 'दैनिक जागरण' ने बिकी हुई ख़बरों का फांट कुछ बदल दिया। (अस्पष्ट अर्थ वाले शब्दों अथवा बदले हुए फांट से पता नहीं वे पाठकों को धोखा देना चाहते थे या खुद को।) इस सीधी वसूली पर कुछ प्रमुख नेताओं ने जब पैसे वसूलने वाले समाचार पत्रों के

मालिकों से संपर्क किया, तो उनका उत्तर था– जब हमारा संवाददाता उपहार या पैसे लेकर ख़बरें लिखता है, तो हम (मालिक) ही सीधे धन क्यों नहीं ले सकते?

खबरों के लिए धन की इस संस्थागत उगाही पर बवाल बिहार से शुरू हुआ। इस जागरूकता के लिए बिहार की तारीफ़ की जानी चाहिए। यद्यपि इस पर संदेह के पर्याप्त कारण भी मौजूद हैं। तथ्य यह है कि बिहार में दैनिक जागरण, हिंदुस्तान, प्रभात ख़बर आदि के पत्रकारों द्वारा चुनाव के दौरान स्थानीय स्तर पर वसूली के क़िस्से आम रहे हैं। झारखंड में तो अख़बार चुनावों के दौरान अपना पुराना हिसाब भी चुकता करते रहे हैं, लेकिन ऊँचे तबके (ऊँची जाति, ऊँची शिक्षा, संपादकों से मित्र धर्म का निर्वाह करने वाले) राजनेताओं से अदना पत्रकार मोल-भाव की हिमाक़त नहीं करते। इस कोटी के नेताओं का मीडिया मैनेजमेंट वरिष्ठ पत्रकार, स्थानीय संपादक आदि करते हैं, जबकि मीडिया के उपहास, उपेक्षा और भेदभाव की पीड़ा पिछड़े राजनेताओं (नीची जाति, कम शिक्षित, गंवई) के हिस्से में रहती है, लेकिन इस बार अख़बार मालिकों ने तो सब धन साढ़े बाईस पसेरी कर डाला। टके सेर भाजी, टके सेर खाजा! इस अंधेर को प्रभात खबर के प्रधान संपादक हरिवंश ने 'ख़बरों का धंधा' कहा, तो जनसत्ता के पूर्व संपादक प्रभाष जोशी ने 'ख़बरों के पैकेज का काला धंधा'। जबकि प्रभात ख़बर भी इस मामले में शामिल था। प्रभाष जोशी ने बांका जाकर जदयू के बागी, लोकसभा के निर्दलीय प्रत्याशी दिग्विजय सिंह के पक्ष में आयोजित जनसभा को संबोधित किया था। उनके साथ 'प्रभात ख़बर' के प्रधान संपादक हरिवंश भी थे। बाद में श्री जोशी ने अपने लेख में दिग्विजय सिंह का मीडिया प्रबंधन कर रहे एक पत्रकार की डायरी के हवाले से इस चुनाव में मीडिया के पैकेज के काले धंधे की कठोर भर्त्सना की। जोशी का यह लेखकीय साहस प्रशंसनीय है, किन्तु उनके लेख में विस्तार से उद्धृत की गयी पत्रकार की डायरी कुछ ज्यादा भेदक प्रसंगों को भी सामने लाती है। श्री जोशी ने इस डायरी के हवाले से सिर्फ पैसों के लेन-देन की निंदा की। अन्य तथ्यों पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया।

श्री जोशी द्वारा उद्धृत की गई डायरी के अंश–

20 अप्रैल 2009 आज एक प्रमुख दैनिक के स्थानीय प्रतिनिधि अपने विज्ञापन इंचार्ज के साथ आये। संवाददाता कह रहे थे– मैंने ख़बर भेजी थी, पर वहाँ एक जाति विशेष के संपादक है। छापेंगे नहीं। यानी पैकेज के बिना अख़बार में खिड़की-दरवाज़े नहीं खुलेंगे।

21 अप्रैल, 2009 एक पत्रकार ने अपने स्थानीय संपादक को बताया कि उसकी ख़बरें छपनी क्यों जरूरी हैं? स्थानीय संपादक एक जाति विशेष का था और एक दबंग उम्मीदवार भी संपादक की जाति का था। इस पत्रकार ने संपादक को समझाया कि हमने उससे डील की, तो जातिगत समीकरण बिगड़ सकता है। दूसरे उम्मीदवार, जो मंत्री हैं, उनके बारे में कहा कि वे सरकारी विज्ञापन दिलवाते रहेंगे। उनसे क्या लेन-

देन करना। दिल्ली में खूब पहचान रखने वाले एक उम्मीदवार के बारे में कहा कि जब उनसे मिलने गया, तो वे फोन पर.. (अख़बार के मालिक) से बात कर रहे थे। उनसे क्या पैकेज लिया जाए।

जाति, पद और परिचय पर आधारित पत्रकारिता का फर्रूखाबादी खेल उपरोक्त उद्धरणों में स्पष्ट है, जिसे पत्रकारिता पर जारी बहस के दौरान नज़रंदाज कर दिया गया है। पत्रकारिता का यह पतन वैश्विक मंदी के कारण वर्ष 2009 में अचानक घटित होने वाली घटना नहीं है। जातिजीवी संपादक और पत्रकार इसे वर्षों से इस ओर धकेलते रहे हैं। वस्तुतः पैकेज ने जातिजीवी संपादकों की मुट्ठी में क़ैद अख़बारों के खिड़की-दरवाज़े सभी जाति के धनकुबेरों के लिए खोल दिये हैं। इसमें संदेह नहीं कि अख़बारों का चुनावी पैकेज बेचना बुरा है, लेकिन अधिक बुरा है, पत्रकारिता में जाति धर्म और मित्र धर्म का निर्वाह।

व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए, तो चुनावों के दौरान ख़बरों की बिक्री पिछले लगभग एक दशक से चल रही है। इसने अख़बारों की विश्वसनीयता गिरायी है, लेकिन पैसा लेकर छापी गयी ख़बर की बदौलत शायद ही किसी प्रत्याशी की जीत हुई हो। उत्तर प्रदेश में वर्ष 2007 के विधान सभा चुनाव में तीन समाचार पत्रों ने सरेआम धन लेकर ख़बर छापने का अभियान चलाया था और करोड़ों रुपये की अवैध उगाही की थी। समाचार पत्रों के ज़रिये अपनी छवि सुधारने वाले राजनीतिक दलों ने इन समाचार पत्रों को विज्ञापन देकर भी पैसा पानी की तरह बहाया, परंतु इनके चुनावी सर्वेक्षण व आकर्षक समाचार भी मतदाताओं का रुझान नहीं बदल सके और विज्ञापन पर सबसे कम धन ख़र्च करने वाली बहुजन समाज पार्टी को पूर्ण बहुमत मिल गया। अख़बारों की विश्वसनीयता की हालत यह हो गयी कि प्रत्याशी अब पक्ष में ख़बर छापने की बजाय कोई ख़बर न छापने के लिए पैसे देने लगे हैं। बदनामी इतनी हो चुकी है कि पक्ष में ख़बर छपने पर मतदाताओं द्वारा उल्टा मतलब निकाले जाने की आशंका रहती है।

पत्रकारिता के मूल्यों में ऐसे भयावह क्षरण से नुकसान दलित, पिछड़ों की राजनैतिक ताकतों, वाम आंदोलनों तथा प्रतिरोध की उन शक्तियों को भी हुआ है, जो इसके प्रगतिशील तबके से नैतिक और वैचारिक समर्थन की उम्मीद करते हैं। मीडिया के ब्राह्मणवादी पूँजीवाद ने इन्हें उपेक्षित, अपमानित और बुरी तरह दिग्भ्रमित भी किया है, लेकिन मीडिया की गिरती विश्वसनीयता पर जाहिर की जा रही चिंता का कारण यह नहीं है। उन्हें चिंता है कि यदि मीडिया की ताकत ही नहीं रहेगी, तो कोई अख़बार मालिक किसी सरकार को किसी तरह प्रभावित नहीं कर सकेगा। फिर उसे अख़बार निकालने का क्या फ़ायदा मिलेगा? यदि साख नष्ट हो गयी, तो कौन-सा सत्ताधारी नेता, अफ़सर या फिर व्यापारी मीडिया की परवाह करेगा? इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए, तो यह अख़बार के संचालकों के हक़ में है कि छोटे-मोटे आर्थिक लाभ

के लिए पैकेज पत्रकारिता को बढ़ावा न दें। व्यावहारिकता का यह तकाजा पूँजीवाद से मनुहार करता है कि वह ब्राह्मणवाद से गठजोड़ बनाये रखे। कौड़ी-दो कौड़ी के लिए इस गठबंधन को नष्ट न करे। सलाह स्पष्ट है, अगर हम पहले की तरह गलबहियाँ डाल चलते रहे, तो ज्यादा फ़ायदे में रहेंगे। सरकार, अफ़सर, व्यापार सब रहेंगे हमारी मुट्ठी में। अभी लोकतंत्र की तूती बोल रही है, इसलिए वह छद्म बनाये रखना ज़रूरी है, जिससे बहुसंख्यक आबादी का विश्वास हम पर बना रहे। मीडिया की 'विश्वसनीयता' बनाये रखना इनके लिए 'समय का तकाजा' है।

(देखें- भड़ास 4 मीडिया डाट काम)

ख़बर का भुनाया जाना

भारतीय मीडिया पर शुरू से ही हिन्दूवादी होने का आरोप लगता रहा है। ख़ासकर, दलित अस्मिता और दलित सत्ताजन्य आंदोलन को वह हमेशा से यह नज़रअंदाज करता रहा है, साथ ही यह पूर्वाग्रही रहकर कार्य करता रहा है। वर्षों बाद भी दलित समाज की सोच के प्रति भारतीय मीडिया अपना नज़रिया बदल नहीं सका है। दलितों से सम्बन्धित ख़बरों के ढर्रे में कोई बदलाव नहीं आया है। दलित के साथ घटित अमानवीय घटनाओं को ख़बर बनाते हुए, उसमें सनसनी पैदा कर, एक अलग ही सोच, दलितों के प्रति समाज में बना डाला है। दलित वर्ग से जुड़ी नकारात्मक ख़बर को चटखरे लगा कर पेश करने की परिपाटी आज भी कायम है। इससे सबसे ज्यादा प्रभावित दलित महिलाएं हैं। दलित महिलाओं के साथ बलात्कार की ख़बर को भारतीय मीडिया ने ख़ास बना कर परोसा, बल्कि सिलसिला जारी है!

कहा जा सकता है कि दलितों के उत्थान के नाम पर भारतीय मीडिया द्वारा ख़बर को भुनाने की कोशिश जारी है। सुर्खियों में दलित वर्ग की ख़बर को हाईलाइट करने के पीछे तर्क किया जाता है कि दलित वर्ग वर्षों से शोषित-पीड़ित है। ऐसे में उन पर हो रहे शोषण को ख़बरों में डाला जाता है ताकि प्रशासन-समाज को पता चले और उसकी मदद के लिए आगे आयें। पिछले दिनों एक ख़बर को अख़बारों ने जमकर भुनाया। ख़बर थी, मध्यप्रदेश के मलिकपुर गाँव की। गाँव के एक दबंग ने दलित समुदाय से आने वाले एक परिवार के ऊपर पन्द्रह हजार रुपये का हर्जाना ठोंक दिया था। दलित परिवार की एक महिला ने गाँव के एक दबंग व्यक्ति के कुत्ते को रोटी खिला दी थी, उस दबंग ने अपने कुत्ते को अछूत कर देने का आरोप दलित परिवार पर लगाते

हुए पन्द्रह हजार रुपये का हर्जाना माँग लिया। 'दलित की रोटी खाकर कुत्ता हुआ अछूत' और 'अछूत कुत्ता' आदि-आदि आकर्षक शीर्षकों के साथ रंगीन पन्नों में ख़बरों को मज़ेदार ढंग से परोसा गया। मसाला बनाकर परोसी गयी यह ख़बर दलित उत्पीड़न व छुआछूत के खात्मे पर चीखने-चिल्लाने वालों के मुँह पर तमाचा थी। लेकिन इसमें मीडिया की भूमिका मात्र ख़बर को परोसने तक रही। हर्जाने की आड़ में दलित उत्पीड़न व छुआछूत मीडिया को नहीं दिखा, जो चौंकाने वाला है। फिर सवाल पैदा होता है कि क्या दलितों-पीड़ितों को सिर्फ़ मसाला बनाकर परोस देने भर से उनकी दशा बदल जाएगी?

ऐसे में यहाँ फिर यह सवाल उठता है कि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी द्वारा 'दलित' को दिये गये 'हरिजन' शब्द को भी हटा दिया गया है। यही नहीं, सरकार 'दलित' शब्द की जगह 'अनुसूचित जाति' के इस्तेमाल पर जोर देने लगी है। ख़बर को ख़बर की तरह पेश किया जाना चाहिये, लेकिन मीडिया द्वारा 'दलित' शब्द का प्रयोग जारी है। अब ख़बर की बानगी को देखें,

''दलित महिला के साथ बलात्कार''

''सोमवार की शाम में राजपुर थाना क्षेत्र के उत्तमपुर गाँव में दबंगों ने एक दलित महिला के साथ सामूहिक बलात्कार किया। पुलिस सूत्रों के अनुसार उत्तमपुर गाँव के निवासी वकील पासवान की बीस वर्षीया लड़की सुनयना (बदला हुआ नाम) के साथ गाँव के ही चार दबंगों ने गाँव के बाहर बागीचे में उस समय बलात्कार किया, जब वह खेत से काम कर घर लौट रही थी।'' ख़बर के शीर्षक से स्पष्ट हो जाता है कि बलात्कार की शिकार महिला दलित वर्ग से है। वहीं ख़बर के अंदर यह डाला जाता है कि वकील पासवान की लड़की के साथ दबंगों ने बलात्कार किया। जहाँ तक ख़बर देने की बात है, तो साफ़ है कि 'दलित' शब्द के बिना ही पीड़ित महिला के परिजन के नाम से उसकी जाति या समुदाय/धर्म का पता चल जाता है। ऐसे में बार-बार 'दलित' शब्द के प्रयोग का औचित्य क्या है? वहीं इस ख़बर पर गौर करें–

''महिला के साथ बलात्कार''

''गुरुवार की देर रात बक्सर नगर थाना क्षेत्र में एक महिला के साथ अपराधियों ने कार में बलात्कार किया। बाद में उसे मेन बाज़ार के पास छोड़ भाग गये। पुलिस सूत्रों के अनुसार रामनाथ पांडेय की पचीस वर्षीया पत्नी सीमा (बदला हुआ नाम) बाज़ार से सामान ख़रीद कर लौट रही थी, तभी कुछ अपराधियों ने जबरन कार में बैठा लिया और कार में ही महिला के साथ दुष्कर्म किया। बाद में उसे मेन बाज़ार के पास छोड़ फरार हो गये। इस संबंध में एक मामला दर्ज़ कर अपराधियों की धर-पकड़ के लिए पुलिस छापा मार रही है।''

इस ख़बर में भी बलात्कार की शिकार एक महिला है, लेकिन शीर्षक और ख़बर में कहीं भी महिला की जाति/संप्रदाय का ज़िक्र नहीं किया जाता है। शायद ही किसी

ख़बर में भारतीय मीडिया ने यह छापा हो कि किसी बाह्मण, कायस्थ, राजपूत आदि सवर्ण जाति की महिला के साथ बलात्कार हुआ। यहाँ पर मीडिया केवल यह बताता है कि एक महिला के साथ बलात्कार हुआ। ख़बर में पीड़िता के परिजन के नाम आने से बात स्पष्ट हो जाती है कि उसकी जाति क्या है। दलित महिला के मामले में उसे 'दलित' बताया जाता है, वहीं सवर्ण हिंदू महिला के मामले में मीडिया की चुप्पी साफ़ इशारा करती है कि ख़बर को छापने के पीछे मंशा क्या है? बलात्कार महिला से होता है, चाहे वह दलित हो या फिर सवर्ण। ख़बर महिला पर फोकस न होकर जाति/ समुदाय पर किया जाता है और उसमें दोहरे मापदण्ड को अपनाया जाता है। यह पत्रकारिता के किस एथिक्स का मार्गदर्शन है, पता नहीं। रही बात दलित वर्ग की, तो बार-बार उन्हें 'दलित' बताना क्या ज़रूरी है? अगर है तो फिर बाह्मण, कायस्थ, राजपूत आदि सवर्ण जाति की महिला के साथ क्यों नहीं?

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि केवल दलित महिलाओं की ख़बर ही नहीं, बल्कि मीडिया दलितों से जुड़ी हर ख़बर को भुनाने का कोशिश करता है। ख़बर देना मीडिया का काम है, लेकिन ख़बर के साथ भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए। ख़बरों के मापदण्ड में समानता होनी चाहिये। सवाल उठता है कि केवल दलितों-पिछड़ों के साथ ही क्यों? समाचार पत्रों में प्रकाशित कुछ ख़बरों का आकलन करने से स्पष्ट होता है कि आज़ादी के वर्षों बाद भी दलित को आम आदमी की तरह नहीं माना गया है। बार-बार उन्हें दलित होने का एहसास कराया जाता रहा है। देखें कुछ ख़बरों को-

''भोजपुर जिले में दलित की हत्या पर बिफरे लोग''

''भोजपुर जिले के गड़हनी थाना क्षेत्र अंतर्गत एकौना केशवपुर गाँव के बीच गुरुवार रात एक दलित मज़दूर की गोली मारकर हत्या कर दी गयी। सूत्रों से मिली जानकारी के अनुसार मृतक सोहराई पासवान गड़हनी थाना क्षेत्र के निवासी जलंधर पासवान का पुत्र बताया जाता है।'' (आरा, 14 जून 2008, दैनिक जागरण)

''दंबगों ने दलित को भूना''

''सोमवार की देर रात राजपुर थाना क्षेत्र के उत्तमपुर गाँव में दबंगों ने एक युवक को गोलियों से भून डाला। मामूली बात पर चलायी गयी गोली से वकील राम की मौक़े पर मौत हो गयी।'' (बक्सर, दैनिक हिन्दुस्तान 17.6.08)।

''दलित बहुल 71406 बनेंगे आदर्श गाँव''

''आम चुनाव की आहटों के साथ ही यू.पी.ए. सरकार अनुसूचित जाति के लिए मॉडल गाँव योजना को लागू करने में जोर-शोर से लग गयी है। इस योजना पर सरकार लगभग 7500 करोड़ रुपये ख़र्च करेगी।'' (दैनिक हिन्दुस्तान 20.6.08 नई दिल्ली।)

''मुसहरों ने शव के साथ किया हंगामा''

''बिजली के तार से हुई मौत के बाद हिन्दुनी मुसहर टोली के लोगों ने जमकर

हंगामा किया। हंगामा कर रहे दलित घटना स्थल पर बी.डी.ओ. को बुलाने की माँग कर रहे थे। उनका कहना था कि जब तक भुक्तभोगी के परिजनों को मुआवज़ा नहीं मिलेगा, वे शव को नहीं ले जाने देंगे।'' (दैनिक हिन्दुस्तान, पटना 20.6.08)

क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर उपरोक्त ख़बरें अक्सर समाचार पत्रों की सुर्खियाँ बनती हैं। दलित वर्ग से जुड़ी इन खबरों में दलितों को हेडलाइन के अलावा समाचार में भी प्राथमिकता से डाला जाता है। वहीं अब इन ख़बरों की बानगी को देखें, इसमें जाति/संप्रदाय की झलक सुर्खियाँ या फिर ख़बर में नहीं दी जाती, केवल पीड़ित के नाम के साथ लगे उपनाम (सरनेम) से पता चलता है। लेकिन यह मापदण्ड दलितों के साथ नहीं अपनाया जाता है। जो अपने आप में एक बड़ा सवाल है।

''किशोर की हत्या''

''सदर थाना अंतर्गत दिघरा गाँव में सोमवार की सुबह एक लीची के बाग में तेरह वर्षीय छात्र अभिषेक कुमार उर्फ़ गोलू की क्षत-विक्षत लाश मिली। वैशाली जिले के पिंडौता गाँव निवासी व्यवसायी रंजीत झा का पुत्र गोलू पिछले आठ दिनों से गायब था।'' (मुजफ्फरपुर, 17.6.08 दैनिक हिन्दुस्तान)

''पीटकर मार डाला''

'' सीतामढ़ी मेहसौल ओपी क्षेत्र स्थित सरकारी बस स्टैंड पर कल देर रात अंधाधुंध फायरिंग कर अपराधियों ने एक ड्राइवर और एक होटल मालिक को बुरी तरह से जख़्मी कर दिया। हादसे के दौरान गोली चलाने वाले रून्नी सैदपुर थाना क्षेत्र के अमित सिंह को स्थानीय लोगों ने पीट-पीटकर जख़्मी कर दिया। बाद में उसकी मौत इलाज़ के दौरान हो गयी।'' (आज, 15 जून 08)

''महिला और तीन बच्चों को जलाया''

''छपरा जिले के खैरा थाने के मानपुर में ससुराल वालों ने दहेज के लिए महिला और उसके तीन बच्चों को मारपीट कर जला दिया। मंगलवार को इलाज हेतु सदर अस्पताल लाने के क्रम में जहाँ अट्ठाईस वर्षीया जहनारा खातून की मौत हो गयी, वहीं अस्पताल में छह वर्षीय नदीम ने भी दम तोड़ दिया।'' (दैनिक हिन्दुस्तान,18.6.08)

इस बात से इंकार नहीं कि आज़ादी के इतने साल बाद भी आज दलितों के साथ भेदभावपूर्ण रवैया अपनाया जाता है, हालाँकि पहले वाली बात अब रही नहीं, विरोध के तेवर बढ़े हैं। दलितों ने अपने अधिकार की लड़ाई लड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी है, लेकिन मीडिया दलितों से जुड़ी सकारात्मक ख़बरों को गोल कर देता है, जबकि दलितों के विकास और उनके लहराते परचम को ख़बर नहीं बनाया जाता है। नकारात्मक ख़बर मिलते ही उसे जरूरत से भी ज्यादा दिखाया और प्रकाशित किया जाता है। मीडिया ने सवर्णों को छोड़ दलित-पिछड़े-आदिवासी को ख़बर बना कर बेचा है। ख़बर को ख़बर के रूप में पेश नहीं किया जा रहा है। दलित हों या सवर्ण, शोषण-

उत्पीड़न की ख़बर को ख़बर की तरह पेश करने की जरूरत है। अब असम की घटना को ही लें, कैसे एक आदिवासी लड़की से जुड़ी ख़बर को जम कर मीडिया ने भुनाया।

तारीख 24 नवम्बर, 2007, विश्व के इतिहास में जघन्यतम घटना असम में घटी। शांतिपूर्ण ढंग से प्रदर्शन कर रहे आदिवासियों को असमी लोगों ने जानवरों की तरह दौड़ा-दौड़ा कर पीटा ही नहीं, बल्कि सरेआम महिलाओं की इज्जत पर हाथ डाला। प्रदर्शन के दौरान एक आदिवासी युवती को असमी युवकों ने नंगा कर उसके गुप्तांग पर लात मारी। पुलिस चंद दूरी पर खड़े होकर घटना का आंनद लेती रही। असमी जनता ने अपने को इन्सान कहने का हक़ भी हाथ से तब जाने दिया, जब नंगी युवती मार खाती अपनी इज्जत बचाने के लिए एक घर में प्रवेश करने की कोशिश की, तो वहाँ गृह स्वामी ने उसे धक्का देकर भगाया ही नहीं, बल्कि उसके नग्न शरीर से खिलवाड़ करने से परहेज तक नहीं किया। जानवर हुआ इन्सान उसकी देह से खेलता व खरोचता रहा और मानवता शर्मसार होती रही। घटना पर मूकदर्शक बने असम के सभ्य समाज-पुलिस-प्रशासन अपने गिरेबान को ऊँचा करते अट्टाहास लगाते रहे। यही नहीं, महिलाओं को देवी के रूप में पूजने वाले लोग नंगी युवती की तस्वीर अपने मोबाइल कैमरे में क़ैद करते रहे। वहीं मीडिया ने आदिवासी महिला की तस्वीर को इतनी बार दिखाया कि लोग शर्मसार हो गये, पीड़िता की इज्जत तार-तार हो गयी। घटना को दिखाना गलत नहीं है, लेकिन पीड़िता को बार-बार कैमरे के सामने लाने से महिला की इज्जत बार-बार गयी। बिना तस्वीर दिखाये भी ख़बर बन सकती थी।

समाचार पत्र हों या फिर ख़बरिया चैनल, सभी के ख़बरों में कोई दलित शामिल रहता है, तब ख़बर का स्वरूप ही बदल जाता है। शीर्षक में 'दलित' शब्द को डालकर उसे उभारने का प्रयास किया जाता है। वहीं जब कोई ख़बर किसी ब्राह्मण या फिर सवर्ण जाति के सम्बन्ध में रहती है, तो मीडिया उसे शीर्षक में देने की जहमत नहीं उठाता है। जबकि दोनों ख़बरों की स्थिति में उसके नाम जाति/सम्प्रदाय से खुलासा हो जाता है। बहुत कम वैसी ख़बरें पढ़ने/देखने को मिलती हैं, जिसमें किसी दलित वर्ग द्वारा लहराये गये परचम का ज़िक्र हो। हर क्षेत्र में आज दलित वर्ग के लोग आगे आ रहे हैं, लेकिन उनके योगदान को ख़बर नहीं बनाया जाता।

वहीं इस मुद्दे पर पत्रकार मानते हैं कि यह बहस का विषय है। उनका मानना है कि दलित वर्ग से जुड़ी ख़बर को हेडलाइन में फोकस करने के पीछे दलित वर्ग का मुख्यधारा से कटे रहना है। उनके साथ हो रहे शोषण-उत्पीड़न को मीडिया के माध्यम से समाज के सामने लाना है। रही बात दलित महिला के साथ बलात्कार जैसी ख़बरों को उछालने की, तो उसके पीछे भी दलित संवेदना है। वहीं अन्य जाति/सम्प्रदाय की महिलाओं से जुड़ी ख़बर को दलित महिला से जुड़ी ख़बर की तरह प्रयोग नहीं किया जाना, विचार करने वाली बात है। वहीं कुछ पत्रकारों का मानना है कि मीडिया बाज़ारवाद की गिरफ़्त में है और दलित वर्ग की ख़बर को छापने के पीछे बाज़ार भी

सबसे बड़ा कारण है। जबकि दलित आंदोलन से जुड़े लोगों का मानना है कि अभी भी दलितों के साथ दोयम दर्ज़े का व्यवहार जारी है। दलित वर्ग को हाईलाइट कर ख़बर नहीं दिये जाने से, दलित वर्ग से जुड़े शोषण-उत्पीड़न का मामला दब कर रह जाएगा। वहीं कुछ लोगों का मानना है कि ऐसा नहीं है, अब दलित शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ गोलबंद होने लगे हैं। घटना के बाद उनका विरोध जताता है कि अब पहले वाली बात नहीं है। दरअसल, कुछ दलित आंदोलन से जुड़े स्वयंसेवी संस्थाओं की दुकान उसी से चलती है। राजनीतिक फ़ायदे के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इस ख़बर को ही लें-

''मुसहरों ने शव के साथ किया हंगामा''

''बिजली तार से हुई मौत के बाद हिन्दुनी मुसहर टोली के लोगों ने जमकर हंगामा किया। हंगामा कर रहे दलित घटना स्थल पर बीडीओ को बुलाने की माँग कर रहे थे। उनका कहना था कि जब तक भुक्तभोगी के परिजनों को मुआवज़ा नहीं मिलेगा, वे शव को नहीं ले जाने देंगे।'' (दैनिक हिन्दुस्तान, पटना, 20.6.08)

घटना के विरोध में दलितों ने किसी राजनीतिक पार्टी या दलित आंदोलन से जुड़े स्वयंसेवी संस्थाओं का इंतज़ार नहीं किया। विरोध का स्वर स्वतः फूटा और प्रशासन को हस्तक्षेप करना पड़ा। ऐसे में मीडिया ने खुद-ब-खुद ख़बर बनायी।

भारतीय मीडिया बाबा सहेब के विचारों को उनके जन्मदिन के अवसर पर ही छापता है, जबकि उनके विचार केवल दलित समाज ही नहीं, बल्कि देश-समाज के हर वर्ग, जाति, सम्प्रदाय और धर्म के लिए प्रासंगिक हैं। उनके विचारों से आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है। वहीं दलित मीडिया ने देश को जागरूक करने का काम किया। दलित जो देश के अहम हिस्सा हैं, उन्हें मुख्यधारा में लाने के लिए दलित आंदोलन को एक ऊर्जा दिया। उनके बीच शिक्षा का प्रसार किया। ख़बरों में दलित अस्मिता की बात की गयी। दलितों पर होने वाले जुल्म-सितम के खिलाफ सामग्री छापी गयी, बल्कि छापी जा रही है।

भारतीय मीडिया द्वारा दलितों से सम्बन्धित ख़बरों को दिखाने/प्रसारित करने को लेकर किये जा रहे भेदभाव के मद्देनज़र ही दलितों के बीच अपना मीडिया स्थापित करने की पहल शुरू हो गयी है।

(बयान, जनवरी 10 में प्रकाशित)

जाति की जय हो

फूलवा को यकीन नहीं हो रहा था, जब उसे पंचायत के गाँव में सरकारी योजना मिड-डे-मील के लिए बच्चों का खाना बनाने वाले रसोइये के तौर पर सरकारी मुलाज़िम बनाया गया। फूलवा के कई पुश्त गाँव व शहरों में सफ़ाई का काम करते आ रहे हैं। लेकिन फूलवा खुश थी कि वह पुश्तों के काम को छोड़ समाज के अन्य जातियों की तरह बढ़िया काम करेगी, लेकिन फूलवा की यह खुशी काफूर हो गयी। ठीक उसी तरह जिस तरह से एक छोटे बच्चे के हाथ में आयी बर्फ की आइसक्रीम जब छूट कर ज़मीन पर गिर जाती है। जब स्कूल के प्रधानाचार्य ने साफ़-साफ़ कह दिया कि देखो फूलवा, सरकार ने भले ही तुम्हें बच्चों का खाना बनाने के लिए रखा हो! खाना तुम नहीं बनाओगी क्योंकि बच्चे तुम्हारे हाथ का बना हुआ खाना नहीं खाएंगे। तुम स्कूल आओ, झाड़ू-पोछा करो, खाना खाओ और जाओ। खाना हम पकवा लेंगे। हाँ, पैसे तुम्हें रसोइये के ही मिलेंगे और हाँ, अगर मुँह खोला, तो तेरा गाँव में हुक्का-पानी बंद करवा दिया जाएगा।

फूलवा के सपने टूट गये थे। कुछ दिन पहले गाँव के चौपाल पर बाहर से आये पढ़े-लिखे लोगों के भाषण उसके कानों पर तमाचा मार रहे थे, हमारी जाति है हिन्दुस्तानी, जात न पूछो साधु की, जाति के नाम पर राजनीति नहीं, आदमी-आदमी में कोई फर्क नहीं... चाहे वह ब्राह्मण हो या दलित... की गूँज़ फूलवा को परेशान कर रही थी। विद्रोह को लेकर मन में द्वंद चल रहा था, लेकिन समाज को कर्म के पैमानों में बाँटने वाले ठेकेदारों के भय से वह खामोश हो गयी। और समाज के ठेकेदारों द्वारा वर्षों से जाति के हिसाब से तय कर्म पर ही आकर ठहर गयी। यह फूलवा की कहानी कोई

सदियों पुरानी नहीं है, बल्कि हाल ही में देश के कई क्षेत्रों में दलितों के साथ घटित होते देखी जा सकती है।

उत्तर प्रदेश के रमाबाई नगर के विवाइन गाँव पंचायत में दलित रेखा को रसोइये के पद पर नियुक्ति मिलते ही गाँव से धमकियाँ मिलने लगीं। विरोध का तेवर देख प्रधानाचार्य ने दलित रसोइये के खिलाफ़ नब्बे दिन के व्रत का ऐलान कर दिया। बच्चों ने स्कूल आना बंद कर दिया। यही नहीं रेखा वाल्मिकी को गाँव निकाला और हुक्का-पानी बंद कर देने की भी धमकी दी गयी। दबाव इतना था कि रेखा वाल्मिकी ने खाना बनाने से हाथ खींच लिया। स्कूलों में बच्चों के नहीं आने पर कहती है कि अगर मेरे खाना बनाने से बच्चे नहीं पढ़ेंगे, तो मैं खाना नहीं बनाना चाहती। काश रेखा वाल्मिकी की इस सोच को समाज के ठेकेदार अपनाते और सदियों शोषित-उपेक्षित और हाशिये पर रहने वाले दलितों को समाज के मुख्यधारा से जोड़ने का प्रयास करते? यह घटना मात्र एक या दो जगहों की नहीं है, बल्कि उत्तर प्रदेश समेत देश के अन्य हिस्सों में घटित हो रही है। एक ओर जाति आधारित जनगणना का विरोध हो रहा है, सवाल उठना स्वाभाविक है, क्या सामज में जो बदलाव आये हैं, वह ऊपरी तौर पर हैं? समाज ने घोषित रूप से मान्यता दे दी है, लेकिन हक़ीक़त में कहानी कुछ और ही है? अघोषित रूप से जाति के नाम पर घृणा-कटुता बरकरार है। कर्म के हिसाब से समाज में बँटी व्यवस्था अघोषित रूप से शासन में है? रेखा की सोच के आगे समाज के ठेकेदार बौने लगते हैं। बच्चे स्कूल में पढ़ने आये, इसके लिए वह अच्छे काम को छोड़ने में तनिक भी परहेज नहीं करती है।

रेखा को समझौते के तहत झाड़ू-पोछे में लगा दिया गया और खाना बनाने का काम किसी और को सौंप दिया गया। भले ही स्कूल ने उसे मिड-डे-मील वाला मानदेय देने वाली बात कह दी, लेकिन सामाजिक तौर पर सरकारी प्रयास के बावजूद वह अपने कर्म को नहीं छोड़ पायी। नाहरपुर गाँव में नियुक्त शंखवार जाति की रसोइया प्रेमा देवी के साथ भी यही सब हुआ। उसे साफ़-साफ़ कह दिया गया कि स्कूल आओ, झाड़ू लगाओ, पोंछा लगाओ, लेकिन खाना नहीं बनाने दिया जाएगा। जुबान खोलने पर हुक्का-पानी बंद कर देने की धमकी दी गयी। रेखा, प्रेमा की तरह कई दलितों को जिन्हें सरकार ने बेहतर जीवनधारा देते हुए, समाज के सबसे घिनौने काम से हटा कर, सम्मान की ज़िंदगी देते हुए मिड-डे-मील से जोड़ा, रसोइया बनाया, लेकिन समाज के ठेकेदार उससे बेहतर काम को छीनते हुए, सरकारी आदेश को ठेंगा दिखाते हुए उनके सामाजिक कर्म के हिसाब से झाड़ू-पोछा और गंदगी उठाने के काम में लगा दिया।

हालाँकि, सरकारी तौर पर अख़बारों में आयी रिपोर्ट में कहा गया है कि सब कुछ सामान्य है। कहीं से कोई लिखित शिकायत नहीं है। एक दलित मुख्यमंत्री के राज्य में हुई यह शर्मनाक सामाजिक घटना की पूरी रिपोर्ट को लखनऊ के एक दैनिक पत्र ने 21 जुलाई 2010 को बैनर हेडलाइन बनाकर छापी है, फिर मीडिया की नज़र में पूरा

मामला आया।

ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था की नींव इतनी गहरी है कि इसका अंदाज़ा रेखा, प्रेमा आदि के साथ हुई घटना से लगाया जा सकता है कि वर्षों से जात के नाम पर राजनीति व शासन चलाने वाले लोग आज भी अपनी ज़मीन खिसकने नहीं देना चाहते? कभी आरक्षण, तो कभी जाति जनगणना के सवाल पर देश-समाज के समक्ष बुद्धिजीवी सोच की गलथेथरी करते मिल जाते हैं और अंदर से अपनी जड़ता को मिटाने के लिए तैयार नहीं हैं। वो जो चाहेंगे, वही होगा? उनकी दबंगता बरकरार है। केन्द्र सरकार ने समाज के दबे-कुचले लोगों को हक़ देते हुए समाज की मुख्यधारा से जोड़ने का बेहतर काम किया है, लेकिन समाज का दूसरा चेहरा सामने है, जो सरकार की नीतियों को कमजोर करने में लगा हुआ है। सरकार ने आरक्षण दिया तो हो-हल्ला हुआ। नौकरी दी तो हो-हल्ला हुआ। दबंगता तो देखिये, दबंग समाज ने अघोषित रूप से कह दिया, चलो सरकार ने दिया तो, पर वे मानें तब तो?

सामाजिक पैमाना तय करने वाले समाज के ये ठेकेदार हजारों साल से चली आ रही कर्म/वर्ण व्यवस्था को तोड़ना नहीं चाहते, लोगों को जोड़ना नहीं चाहते। समाज को एक सूत्र में देखना नहीं चाहते। तभी तो, उत्तर प्रदेश के कई गाँवों में ये हालात देखने को मिले। सवाल वही दलित का है। सरकार की बहुचर्चित मिड-डे-मिल योजना के तहत रसोइये के तौर पर नौकरी पाये दलितों के हाथ का बना खाना खाने से समाज के ठेकेदार विरोध में खड़े हो गये। सरकारी व्यवस्था के तहत दलित समुदाय को, सामाजिक वर्ण/कर्म व्यवस्था को तोड़ते हुए सरकार ने रसोइये की नौकरी दे दी, लेकिन सामाजिक व्यवस्था ने सरकारी व्यवस्था को ठेंगे पर रख दिया। सरकार की इस व्यवस्था से अघोषित रूप से दलितों के साथ जो कुछ हुआ, उससे जाति विहीन समाज की बात करने वालों के आंदोलन को भी समाज के इन ठेकेदारों ने चुनौती दी है।

सवाल उठता है कि 'जनगणना से जाति हटाओ' के नारे के साथ कुछ तथाकथित बिना जाति के लोगों ने उपवास और धरना दिया है। चलिये, इस जनत्रंत में सबको कुछ भी कहने-करने की आज़ादी और अपनी सोच को लादने का पूरा हक़ है। मैं भी इसका फ़ायदा उठाता हूँ और उपवास करने वालों से कुछ पूछता हूँ। सवाल है, किसका विरोध? जाति का या सोच का? या फिर व्यवस्था का? अगर जाति का विरोध कर रहे हैं, तो समाज के अंदर इसकी जड़ें गहरी हैं, जो मात्र उपवास से नहीं उखाड़ फेंकी जा सकती हैं। मामला सोच का लगता है। एक ओर जातिगत जनगणना का विरोध हो रहा है, उपवास किया जा रहा है। वहीं जातिनुमा अजगर के मुँह में फँसे समाज के खिलाफ उपवास क्यों नहीं किया जा रहा है? ऐसा नहीं कि जनगणना से जाति हटाने के खिलाफ उपवास करने वालों को मालूम नहीं। जातिगत राजनीति के एक चेहरे को 18 जुलाई, 2010 के लखनऊ के प्रकाशित एक समाचार पत्र ने खोल कर रख दी है। एटा जिले के अहरई गाँव के एक स्कूल में मिड-डे-मिल खाने से बच्चों का इंकार।

...इंकार का कारण मिड-डे-मिल बनाने वाला रसोइये का दलित होना। मामला इतना गंभीर हो गया कि ग्रामीणों ने भी रसोइये के दलित होने के खिलाफ झंडा उठा लिया। मामला सरकार तक पहुँचा। आला अधिकारी स्कूल पहुँचे और खुद दलित रसोइये के हाथ का बना खाना खाया ताकि मामला शांत हो जाये, लेकिन समाज के अंदर जाति के अजगर की पकड़ भला इतनी कमजोर कैसे होती? चर्चा है कि मामले को देखते हुए बीच का रास्ता निकालते हुए दलित रसोइये को किसी अन्य काम में लगाने की बात हो रही है। वहीं एक स्कूल में तो हद ही हो गयी। एक ख़बरिया चैनल ने पिछले दिनों दिखाया कि मिड-डे-मिल बनाने वाले दलित रसोइये के खिलाफ स्कूल के प्राचार्य ने व्रत रख लिया। साथ ही स्कूल के तमाम शिक्षकों को भी व्रत के लिए प्रेरित किया। पूरा गाँव समर्थन में खड़ा हो गया और दलित रसोइये के हटाने की क़वायद तेज़ हो गयी। बच्चों ने भी खाना खाने से इंकार कर दिया। कहा जाता है कि बच्चे भगवान के रूप होते हैं। उन्हें क्या पता जाति किस चिड़िया का नाम है। बच्चों के दिमाग में दलित रसोइये की बात किसने डाली? समाज के ठेकेदारों ने? समाज के ठेकेदार कौन? वही न, जो समाज के नियामक हैं? तो सवाल है, जनगणना से जात हटाओ के नारे के साथ कुछ तथाकथित बिना जाति के लोगों ने जो उपवास और धरना दिया, वह इनके खिलाफ होने चाहिये थे। एक दलित जिसे सरकार ने काम दिया, उसे ही विरोध जता कर बेकार/ बेरोजगार करने की कहीं साज़िश तो नहीं? सवाल बहुत हैं, जवाब चाहिये। वेद में कहा गया है, ''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवतिः'', लेकिन हो रहा है ''वैदिकी जाति जाति न भवतिः।''

जनगणना 2011 में जातिगत जनगणना की चर्चा से ही भूचाल-सा आ गया है। मीडिया में एक तरह का अघोषित युद्ध लेखकों-पत्रकारों ने छेड़ रखा है। कोई विरोध में खड़ा है, तो कोई समर्थन में। हाल आरक्षण वाला है। तर्क पर तर्क दिये जा रहे हैं। सच्चाई को दरकिनार कर हर कोई अपनी बात मनवाने में लगा है कि वह जो कह रहा है, वहीं सच है बाकी सब गलत। लेकिन सबसे बड़ा सवाल यह है कि जातिगत जनगणना का विरोध आख़िर क्यों? तर्क दिया जा रहा है कि इससे मानव-मानव में दूरी बढ़ेगी? जातिवाद को बढ़ावा मिलेगा? एक प्रख्यात लेखक ने अपने लेख में यहाँ तक लिख मारा कि इससे देश का एक और बँटवारा हो जाएगा। बड़ी अच्छी सोच है। इसके लिए साहब को कोई राष्ट्रीय सम्मान मिलना ही चाहिये।

सच यह है कि आज के भारतीय वर्ण व्यवस्था वाले समाज में हर कोई इसके घेरे में है। आज़ादी के इतने साल बाद भी द्विज केंद्रित सामाजिक व्यवस्था में किसी ने दलितों को अपनाने व बराबरी का दर्ज़ा तक नहीं दिया। आज भी उनके मंदिर में घुसने पर अघोषित रोक है, हक़ की बात करने पर दलित की जीभ काट ली जाती है, सरेआम मारा-पीटा जाता है, उनके लिए अलग से कुआँ, दलितों का छूआ खाना खाने से परहेज है.....और न जाने क्या-क्या? दलितों के साथ होते अन्याय की चर्चा आये दिन

मीडिया में होती रहती है। कहने के लिए उन्हें आरक्षण मिला है, जिस पर समाज का एक तबका नाक-भौं सिकोड़ता रहता है। वर्षों से समाज के अंदर जो बराबरी-ग़ैरबराबरी का मामला है– बरकरार है। सवाल उठता है कि क्या सवर्ण समाज ने दलितों को बराबरी का दर्ज़ा दिया है? आश्चर्य है कि आज हम जाति का विरोध कर रहे हैं। विरोध करने वालों ने कभी जाति आधारित समाज के खात्मे की बात की है? किया भी तो हल्के ढंग से। जातिगत सूचक सरनेम को हटा नहीं पाये। सरकारी और ग़ैरसरकारी तौर पर दस्तावेज़ों में जाति के कॉलम में जाति भरने का कोई विरोध नहीं करता और जाति पूछ ही लिया जाएगा, तो कौन-सा पहाड़ टूट जाएगा? आस-पास में शर्मा जी रहते या वर्मा जी या फिर तिवारी जी या यादव जी, सभी जानते हैं। जाति की बात केवल दलितों के लिए नहीं है, यही बात ओ.बी.सी के साथ भी है। खतरा द्विज समाज को दिखने लगा है। समाज की बागडोर अपने पास रखने वाले द्विज समाज की जब जातिगत व्यवस्था को तोड़ने में कोई भूमिका नहीं रही, तो आख़िर जातिगत जनगणना से उनके पेट में गुदगुदी क्यों?

(प्रभात खबर, 6 अगस्त 2010 में प्रकाशित)

द्विज समाज की दूषित सोच

समाजशास्त्री प्रोफेसर आशीष नंदी का जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल के मंच से दिया गया बयान देशभर में बहस का मुद्दा बना। उन्होंने देश में भ्रष्टाचार की जड़ तलाश करते हुए यह फ़ैसला सुना दिया कि पिछड़े और दलित ज्यादा भ्रष्ट हैं! नंदी ने पश्चिम बंगाल का उदाहरण देते हुए कहा कि वहाँ साफ़-सुथरी राजव्यवस्था है और इसका कारण है, पिछले 100 वर्षों में वहाँ पिछड़े तथा दलित वर्ग के लोग सत्ता से दूर रखे गये। नंदी उवाच से हंगामा होना ही था। मीडिया और राजनीतिक गलियारे में आशीष नंदी के कथन की आलोचना हो रही है। ख़बरिया चैनल, फेसबुक और प्रिंट मीडिया ने मुद्दे को लेकर बहस किया। समाजशास्त्री प्रोफेसर आशीष नंदी जी विद्वान हैं, कुछ भी बोल सकते हैं, तर्क दे सकते हैं, ख़बरों में बने रहने के लिए बौद्धिक अंदाज़ में दलितों एवं पिछड़ों को गरिया सकते हैं, लेकिन सवाल उठता है कि दलित एवं पिछड़े ही क्यों? कहीं यह उनका भड़ास, द्विज मानसिकता का परिचायक तो नहीं? कई सवाल हैं, जो बहस पैदा कर जाते हैं। यह अच्छा हुआ कि उनके बहाने द्विज समाज की वह सोच सामने आयी, जो दलित-पिछड़ों को द्विजों के साथ खड़ा नहीं होने देना चाहता है। बयान पर विरोध के बाद उनका सफ़ाई अभियान भी चला। कुछ लोग उनके समर्थन में खड़े हुए, तो कुछ विरोध में। आलोचक सफ़दर इमाम कादरी लिखते हैं, ''प्रोफेसर आशीष नंदी इतने प्रबुद्ध विचारक हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि उनका बयान जुबान की फिसलन है या किसी तरंग में आकर उन्होंने ये शब्द कहे। अपनी तथाकथित माफी में उन्होंने जो सफ़ाई दी तथा उनके सहयोगियों ने प्रेस सम्मलेन में जिस प्रकार मज़बूती के साथ उनका साथ दिया, इससे देश के बौद्धिक समाज का ब्राह्मणवादी

चेहरा और अधिक उजागर हो रहा है। सजे-धजे ड्राइंग रूम में अंग्रेज़ी भाषा में पढ़कर तथा अंग्रेज़ी भाषा में लिखकर, एक वैश्विक समाज के निर्माण का दिखावा, असल में संभ्रांत बुद्धिवाद को चालाकी से स्थापित करते हुए समाज के कमजोर वर्ग के संघर्षों पर कुठाराघात करना है। **(देखें- नौकरशाही डाट इन, 27 जनवरी 13)**

दलित एवं पिछड़ा को पहले गाली, फिर दिखावे के लिए माफ़ी को मज़बूती के साथ मीडिया ने भी उठाया और एक बार फिर अपने सवर्ण चेहरे को चमकाते हुए, साबित कर दिया कि वह किसके साथ है? प्रोफेसर आशीष नंदी की जितनी आलोचना की जाये, कम होगी। दलित एवं पिछड़ों के खिलाफ इस तरह की टिप्पणी के लिए इतनी जल्दी उन्हें छोड़ना अनुचित है।

'देश के भ्रष्टाचार में सबसे बड़ा हाथ दलितों, पिछड़ों और अनुसूचित जाति, जनजाति के लोगों का है', के बयान पर आशीष नंदी के खिलाफ़ एफ.आई.आर. दर्ज़ कर लिया गया है। उन पर ग़ैर जमानती धाराएं लगायी गयी हैं। बसपा सुप्रीमो मायावती सहित कई दलित नेताओं ने आशीष नंदी के बयान पर तीखी प्रतिक्रिया जाहिर करते हुए कहा कि सरकार को आशीष नंदी के खिलाफ़ कड़ी कार्रवाई करनी चाहिए। वहीं अभी भी राजनीतिक गलियारे में मज़बूत पिछड़ी जाति के नेताओं ने दलित नेताओं की तरह प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की है।

हालाँकि, आशीष नंदी ने यह बात पहली बार नहीं कही है, बल्कि उन्होंने पाक्षिक हिंदी पत्रिका 'द पब्लिक अजेंडा' के अगस्त अंक में बातचीत के दौरान भी अपने इस मत को 'तर्कसम्मत तौर' पर रखा था, जिसे 'जनज्वार डॉट' ने प्रकाशित किया था। बातचीत में आशीष नंदी कहते हैं, ''मैंने दलितों में आम्बेडकर को भी देखा और अब मायावती भी हैं। इसी तरह ओ.बी.सी. नेताओं में भी ईमानदार और भ्रष्ट लोग हैं, लेकिन मैं इतना जरूर कहूँगा कि जैसा लोकतंत्र हमारे देश में है, वैसा कहीं और नहीं है। हमारे देश में तेज़ी के साथ वंचित और पिछड़ी जातियों और समुदायों ने सत्ता में भागीदारी की है और लोकतंत्र में सभी की भागीदारी बढ़ी है। मेरा मानना है कि लोकतंत्र की इसी भागीदारी का बाइप्रोडक्ट है 'भ्रष्टाचार', लेकिन मैं राजनीतिक और कर्नाटक और ओडिशा या दूसरे राज्यों में जारी कॉरपोरेट लूट के भ्रष्टाचार को अलग करके देखता हूँ। मुझे कहने में संकोच नहीं कि हमारे देश में जारी भ्रष्टाचार में बहुतायत सत्ता का भ्रष्टाचार ही है। पिछले पचास वर्षों में हमारे लोकतंत्र का ढाँचा बदल गया है। जिन संस्थाओं और सदनों में सवर्णों की भरमार हुआ करती थी, वहाँ पर्याप्त संख्या में वे लोग पहुँच रहे हैं, जिन्हें हमेशा ताकत से दूर रखा गया। ताकत की यही भूख राजनीतिक नैतिकताओं के बेड़े को तहस-नहस कर रही है, मगर दूसरी ओर यह लोकतंत्र में भागीदारी को मज़बूत भी कर रही है।'' **(देखें- जनज्वार डॉट कॉम)**

देखा जाये तो यह आशीष नंदी की अकेली सोच नहीं है। जब भी दलित-पिछड़ों के हित यानी उन्हें समाज-देश के मुख्यधारा से जोड़ने के लिए सरकारी स्तर पर प्रयास

होता है, तो उसका सवर्ण समाज ख़िलाफ़त करने लगता है। उसे अपनी हक़मारी दिखने लगती है। लेकिन यह नहीं दिखता कि आज़ादी के 65 वर्ष बाद भी समाज-देश में व्याप्त बराबरी-ग़ैरबराबरी का फासला आज भी बरकरार है, जो सवर्ण दलित-पिछड़ों के हक़ की वकालत करते हैं, उन्हें सलाह दी जाती है कि वे दलित के साथ मिल कर 'दलितस्तान' बना लें! आशीष नंदी की सोच जो भी हो, अभी भी दलित-पिछड़ों के लिए दिल्ली दूर है। फ़ासले अभी भी मुँह चिढ़ाते हैं और यह भी सच है कि फासलों में भी संभावना देखने वाले लोग भी काफी हैं, लेकिन इनमें ज्यादातर अपनी दुकानें चला लेते हैं।

दरअसल, भ्रष्टाचार एक देशव्यापी समस्या है, जिसका किसी जाति विशेष या वर्ग विशेष से कोई लेना-देना नहीं है। आज की तारीख में भ्रष्टाचार एक रोज़गार, एक व्यवसाय बन गया है और भ्रष्टाचारियों का पूरी तरह से विकसित एक तंत्र है, जो शासन-प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर काबिज़ है। आशीष नंदी जब दलितों, पिछड़ों को भ्रष्टाचार का कारण या ज़िम्मेवार मानते हैं, तो सबसे पहले उन्हें यह देखना-पढ़ना-शोध करना चाहिए था कि शासन-प्रशासन में देश में दलितों-पिछड़ों के प्रतिनिधित्व का प्रतिशत क्या है और इस प्रतिशत में आज़ादी के बाद आज तक कितना इज़ाफा हुआ है। भ्रष्टाचार के शिकार आज सर्वाधिक दलित और पिछड़े ही हैं।

'बहुजन डाइवर्सिटी मिशन' के राष्ट्रीय अध्यक्ष एच. एल. दुसाध, आशीष नंदी की सोच पर बहस चलाते हुए कहते हैं, अगर सामाज मनोविज्ञानियों का यह निष्कर्ष सही है कि उच्च आकांक्षा-स्तर और उपलब्धि-अभिप्रेरणा के चलते ही देश को हिला देने वाले अस्सी-नब्बे प्रतिशत घोटालों में सवर्णों की संलिप्तता रहती है, तो भ्रष्टाचार को न्यूनतम स्तर पर ले जाने का एक ही उपाय है, शक्ति के स्त्रोतों (आर्थिक-राजनीतिक-धार्मिक) में सामाजिक और लैंगिक विविधता का प्रतिबिम्बन, विविधता अर्थात डाइवर्सिटी सिद्धांत लागू होने पर तमाम अवसरों का बँटवारा सवर्ण, ओ.बी.सी, एस.सी-एस.टी. और धार्मिक अल्पसंख्यकों के स्त्री-पुरुषों के संख्यानुपात में होगा। इससे जिन सवर्णों का उद्योग-व्यापार, मीडिया, मिलिट्री के उच्च पदों, न्यायपालिका, मंत्रालयों के सचिव इत्यादि पदों पर अस्सी-पचासी प्रतिशत कब्ज़ा है और जहाँ का भ्रष्टाचार ही राष्ट्र के समक्ष विराट समस्या है, वहाँ वे सात-आठ प्रतिशत पर सिमटने के लिए बाध्य होंगे। कारण इन सभी क्षेत्रों में लैंगिक विविधता लागू होने पर उनके कुल पन्द्रह प्रतिशत का आधा हिस्सा उनकी महिलाओं के हिस्से में चला जाएगा। सवर्ण महिलाओं में भी ऐतिहासिक कारणों से दलित-पिछड़ों की भाँति ही आकांक्षा-स्तर और उपलब्धि अभिप्रेरणा निम्न स्तर की है। इसका आधिक्य सवर्ण पुरुषों में ही है। ऐसे में जब वे डाइवर्सिटी के रास्ते महज सात-आठ प्रतिशत अवसरों पर सिमटने के लिए बाध्य होंगे, तब निश्चय ही भ्रष्टाचार में मात्रात्मक कमी आएगी। स्मरण रहे भ्रष्टाचार का ख़ात्मा लगभग असंभव है, सही कार्य योजना बनाकर इसकी सिर्फ़ मात्रा

में कमी लायी जा सकती है और डाइवर्सिटी इसमें शर्तिया तौर पर सहायक होगी।

(देखें– 'टल गई भ्रष्टाचार के जाति शास्त्र पर बहस' सन्मार्ग, 11 फरवरी 2013)

आशीष नंदी की उक्ति सीधे तौर पर उस मानसिकता का ही प्रतिनिधित्व कर रही है, जिस मानसिकता के तहत एक आदि पुरुष की कल्पना की गयी थी, जिसके मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पैर से शूद्र की उत्पति बतायी गयी थी और शूद्र का कार्य उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना मात्र था। लगता है कि आज से लगभग तीन हजार वर्ष की मानसिकता के साथ आज भी नंदी जी खड़े हैं। उनका बयान एक ग़ैर वाज़िब और दलित-पिछड़ा विरोधी मानसिकता का ही प्रतिनिधित्व कर रहा है। कुछ दलितों का अपनी मूल स्थिति से थोड़ा ऊपर उठ जाना, प्रशासनिक कुर्सियों पर बैठ जाना या संसद में पहुँच जाना शायद वे पचा ही नहीं पा रहे हैं, तभी वे इस तरह की बातें सोचते और फिर जाहिर कर देते हैं। कायदे से उनके जैसी प्रखर शख़्सियत के मुँह से निकली बात माफ़ी की हक़दार नहीं होनी चाहिए, लेकिन जितनी प्रमुखता से उन्हें मीडिया ने सहयोग किया, उनकी बयानबाजी के बाद आनन-फानन में उसके निपटारे में मीडिया जिस उत्साह के साथ खड़ा हो गया, जैसे भक्त की रक्षा के लिए साक्षात् ईश्वर जैसे प्रकट होते हैं, ठीक उसी तरह मीडिया भी अपने भक्त को संकट में घिरा देखकर भगवान की शक्ल में उनके सामने प्रकट हुआ और उनके अभयदान की पृष्ठभूमि लिख दी।

पूर्वाग्रहों से रहित होकर कोई भी बुद्धिजीवी अगर इसकी तह में जाएगा, तो सब कुछ आईने की तरह साफ़ हो जाएगा कि अभी तक हमारे देश में कितने दलित-पिछड़ों ने सत्ता का स्वाद चखा है, कितने दलित शासन-प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों को छू पाये हैं। इसलिए यह मानना कि भ्रष्टाचार के लिए दलित या पिछड़े ज़िम्मेवार हैं- बिल्कुल ग़ैर-ज़िम्मेदाराना बयान है और यह प्रत्यक्षतः एक वर्ग विशेष विरोधी मानसिकता का ही पर्दाफ़ाश करता है। अंत में आशीष नंदी जी को जानना होगा कि देश में बराबरी और ग़ैर-बराबरी का फ़ासला बड़े पैमाने पर कायम है और इसे देखने के लिए किसी तरह का चश्मा लगाने की ज़रूरत नहीं है। साथ ही इस फ़ासले को मीडिया को भी जानने की ज़रूरत है और उसे सवर्ण लबादे को छोड़कर दलितों-पिछड़ों के लिए खड़ा होना चाहिए।

(विस्फ़ोट डाट कॉम में प्रकाशित)

कहाँ है मीडिया
हर दिन तीन दलित महिलाओं के साथ बलात्कार

दिल्ली में एक चलती बस में एक छात्रा के साथ सामूहिक दुष्कर्म की जघन्य घटना का जितना विरोध किया जाये, कम ही होगा। घटना के विरोध में दिल्ली में जमकर हंगामा बरपा, प्रदर्शन का दौर चलता रहा। महिलाएं सड़कों पर उतरीं। प्रदर्शनकारी व पुलिस के बीच जो कुछ हुआ, उससे सरकार को सामने आना पड़ा। मीडिया में बयान देना पड़ा। शांति की अपील करनी पड़ी। हालाँकि, घटना से जुड़े दुष्कर्मियों को पकड़ा भी गया। आम दुष्कर्म की घटना की तरह आरोपी सलाखों के बाहर नहीं रह पाये। घटना के विरोध के स्वर ने दिल्ली को हिला दिया। दिल्ली के बाहर छोटे-बड़े शहरों-क़स्बों और मुहल्लों में भी विरोधी स्वर गूँज़े और न्याय की माँग उठी। दुष्कर्मियों को फाँसी देने की जोरदार शब्दों में वकालत हुई।

मीडिया ने भी इस मुद्दे को खूब जगह दिया। ख़बरिया चैनलों ने मौक़ा हाथ से जाने नहीं दिया। घटना के आगे-पीछे गये। स्टूडियों में बहस हुई। सामूहिक दुष्कर्म की जघन्य घटना पर विभिन्न कोण से घंटों कार्यक्रम परोसे गये। महिलाओं को पुरुष सत्ता के अंदर दबे-कुचले स्वरूप में दिखाया गया, बल्कि उन्हें एहसास कराया गया कि वे निरीह प्राणी हैं, उनकी ताकत को नज़रंदाज़ किया गया। पिंजड़े में बंद, रोते-बिलखते दीन-हीन हालात में चित्रों, ग्राफिक्स और नाट्य रूपांतर कर परोसा गया। जहाँ सामूहिक दुष्कर्म की जघन्य घटना पर महिलाओं, छात्र-छात्राओं, महिला-सामाजिक संगठनों आदि ने जो विरोधी तेवर दिखाया, वहीं मीडिया ने भी अपने तेवर को बरकरार रखा। ऐसे में सवाल भी उठे। दिल्ली को केवल दिल्ली ही क्यों दिखती है? देश क्यों नहीं दिखता?

दिल्ली में जो प्रदर्शन हुए उसने यह बात साफ़ कर दी कि एलीट क्लास द्वारा किये गये आन्दोलनों को मीडिया बढ़-चढ़ कर दिखाता है या यूँ कहें, खुद प्रायोजित करता है। दिल्ली एलीट क्लास की है। अंग्रेज़ी में नारे लगाती भीड़ और अंग्रेज़ी में इंटरव्यू देते प्रदर्शनकारियों का लाइव मीडिया कवरेज सवाल पैदा कर गया। मीडिया भी एक ख़ास वर्ग को ध्यान में रखकर ख़बरें गढ़ता है। तभी तो दिल्ली में ही इण्डिया गेट से बमुश्किल एक कि.मी. दूर कंपकंपाती दिल्ली की सर्दी में जंतर-मंतर के पास महीने भर से पड़े एक दर्जन से ज्यादा विभिन्न हड़ताली संगठनों व दर्जनों अनशनकारियों की तरफ़ कॉरपोरेट लाबिस्ट मीडिया झाँकने की कोशिश तक नहीं करता है। अख़बार इनकी ख़बर नहीं छापता। चैनल के कैमरे के लेंस इन्हें अपने दायरे में नहीं लेते। दिल्ली से दूर-दराज के गाँवों-शहरों में प्रायः रोज़ बलात्कार होते हैं। यह बात सही है कि दिल्ली की गूँज़ प्रभाव डालती है। दूर-दराज के गाँवों-शहरों की गूँज़ राष्ट्रीय मीडिया को सुनायी नहीं पड़ती। टी.वी. पत्रकारों को दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों पर होते जुल्म नज़र नहीं आते।

दिल्ली की घटना के बाद, जो प्रतिरोध हुआ, उसका दोहराव दिल्ली के बाहर नहीं होता या फिर दिल्ली के बाहर की जघन्य घटना पर दिल्ली चुप क्यों रहती है? समाज के अंदर व्याप्त बराबरी-ग़ैरबराबरी को देखें, तो बात साफ़ होती है और मीडिया पर जो आरोप मढ़ा जाता है कि भारतीय मीडिया दलित-पिछड़ों के लिए नहीं है, वह सच साबित होती है। रोकथाम और अनुसूचित जातियों के खिलाफ़ अत्याचार पर राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की रिपोर्ट के अनुसार, हर दिन तीन दलित महिलाओं के साथ बलात्कार की घटना घटती है। हर अट्ठारह मिनट पर दलित के खिलाफ़ एक अपराध होता है। हर हफ़्ते तेरह दलितों की हत्या कर दी जाती है, पाँच दलितों के घर या संपत्ति को जला दिया जाता है और छह दलितों का अपहरण कर लिया जाता है, लेकिन ये सब मीडिया को नहीं दिखता है और न ही उन संगठनों को दिखता है, जो आंदोलन या प्रदर्शन करते रहते हैं। अनुसूचित जाति-अनुसूचित जनजाति अत्याचार अधिनियम की रोकथाम के तहत सज़ा की दर पन्द्रह दशमलव इकहत्तर प्रतिशत है और लम्बित के रूप में पचासी दसमलव सैंतीस प्रतिशत है। ksahttp://cpiml.in/home/index.php?view=article&id=604:crimes—against—dalits—in india&Itemid=112&option=com_contentgender and caste फिर भी मीडिया को दलितों के ऊपर होते अत्यचार नहीं दिखता है।

जाति विरोधी संगठन के संयोजक जे.पी. नरेला के अनुसार बात बहुत साफ़ है कि यह बलात्कार या गैंगरेप की घटना कोई पहली या आख़िरी नहीं है। पिछले ही दिनों दिल्ली से सटे हरियाणा राज्य में 18 गैंगरेप की घटनाएं सामने आयीं। इनमें से सोलह दलित महिलाओं के साथ हरियाणा की दबंग जाति के लोगों ने बलात्कार किया। एक घटना में तो बलात्कार पीड़िता के पिता ने शर्म से आत्महत्या तक कर ली। दिल्ली में

हुई गैंगरेप की घटना पर हुए विरोध प्रदर्शन और तमाम सरकारी मशीनरी की सक्रियता इस क़दर दिखी कि दिल्ली का मध्यवर्ग सड़कों पर उतर आया। उसने पूरी मशीनरी को हिलाकर रख दिया और अपनी कुछ माँगे मनवाने में सफलता भी हासिल कर पाया। इस घटना को देखकर ऐसा लग रहा है कि वर्तमान भारतीय समाज वर्ग और जाति से संचालित होता है। जीवन के प्रत्येक स्तरों पर वर्ग और जाति की अवधारणा प्रतिबिम्बित होती रहती है। यहाँ का प्रिंट मीडिया, राज्य मशीनरी और संपूर्ण समाज इस अवधारणा की पूरी तरह चपेट में है। मध्यवर्ग और ऊपरी तबके की घटनाओं को ही भारतीय मीडिया उठाता है, निरंतर उन ख़बरों को चलाता है। गरीब-दलित परिवारों की घटनाओं को भारतीय मीडिया कभी नहीं उठाता, वह इसलिए क्योंकि इससे उसकी ख़बरें भी नहीं बिकती हैं, देखें (http://www.janjwar.com) जे.पी. नरेला की बातों में दम है, सही मायने में भारतीय मीडिया दलित-पिछड़ों के मुद्दों को तरजीह नहीं देता है।

दुष्कर्म चाहे दिल्ली में हो या दिल्ली से सटे राज्य हरियाणा में या बिहार, उत्तर प्रदेश में, दुष्कर्म तो दुष्कर्म ही होता है। सवाल उठता है कि गूँज़ दिल्ली से दिल्ली तक ही क्यों? ऊपर से मीडिया का हो-हल्ला दिल्ली तक ही क्यों? बिहार की राजधानी पटना में सामूहिक दुष्कर्म की घटना पर मीडिया का तेवर नहीं दिखा। पटना के पास ही शाहजहानपुर थाना के एक गाँव की एक नाबालिग के साथ सामूहिक दुष्कर्म हुआ, लेकिन मीडिया की गूँज़ में वह गूँज़ नहीं सुनाई पड़ी, जो दिल्ली की सड़कों पर दिखी। संवेदना दोनों के साथ होनी चाहिये। सवाल मीडिया से भी है और संगठनों से भी है, जो एक मुद्दे को हवा देते हैं और वहीं दूसरे पर चुप। आख़िर ऐसा क्यों? दुष्कर्म तो आख़िर दुष्कर्म होता है।

(बयान, जनवरी 13 में प्रकाशित)

दलित उत्पीड़न कब तक

देश में वंचितों के साथ शोषण-उत्पीड़न की घटनाओं पर अंकुश नहीं लग पा रहा है। जनसंख्या में सोलह प्रतिशत की भागीदारी के बावजूद रोज़ाना उन्हें प्रताड़ित किया जा रहा है। प्रताड़ना कभी ख़बर बनती है, तो कभी गुम कर दी जाती है। समाज के मुख्यधारा में बराबरी का सपना, सपना बन कर रह गया है। हक़ माँगने पर उनके साथ शोषण-उत्पीड़न होता है। ज़िंदा जलाने, मार-पीट, स्कूलों में एक साथ बैठ कर नहीं पढ़ने देना, मंदिरों में प्रवेश पर रोक जैसी घटनाएं आम हैं। खुद सरकार स्वीकारती है कि देश भर में पिछले तीन साल में दलितों के खिलाफ़ उत्पीड़न के एक लाख से अधिक मामले दर्ज़ किये गये और लगभग तैंतीस हजार व्यक्ति दोषी पाये गये।

केन्द्रीय कानून मंत्री रविशंकर प्रसाद ने 25 जुलाई, 2014 को राज्यसभा में एक लिखित प्रश्न के उत्तर में बताया कि राष्ट्रीय अपराध आँकड़ा ब्यूरो के अनुसार अनुसूचित जाति एवं जनजाति, उत्पीड़न निरोधक, कानून 1989 के तहत क्रमशः एक लाख छह हजार अठहत्तर मामले दर्ज़ किये गये, जिनमें 2011 में तैंतीस हजार सात सौ उन्नीस, 2012 में तैंतीस हजार छह सौ पचपन और 2013 में उनतालीस हजार चार सौ आठ मामले दर्ज़ किये गये। उन्होंने बताया कि अनुसूचित जनजाति, आदिवासियों के खिलाफ पिछले तीन साल में उत्पीड़न के अठारह हजार चार सौ इकहत्तर मामले दर्ज़ किये गये। इनमें 2011 में पाँच हजार सात सौ छप्पन, 2012 में पाँच हजार नौ सौ बाइस और 2013 में छह हजार सात सौ तिरानबे मामले शामिल हैं।

राष्ट्रीय अपराध आँकड़ा ब्यूरो के अनुसार दलितों के खिलाफ उत्पीड़न के सर्वाधिक मामले उत्तरप्रदेश, राजस्थान, आंध्रप्रदेश, बिहार और उड़ीसा से हैं। आदिवासियों के खिलाफ़ सर्वाधिक मामले मध्यप्रदेश, राजस्थान और आंध्रप्रदेश में दर्ज़ किये गये। आँकड़ों के अनुसार पिछले तीन वर्ष में आदिवासियों के खिलाफ उत्पीड़न के मामले में लगभग तीन हजार नौ सौ लोग दोषी पाये गये।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट के अनुसार, देश में हरेक 18 मिनट पर

दलित के साथ अपराध होता है। प्रत्येक दिन तीन दलित महिलाओं के साथ दुष्कर्म होता है, दो दलितों की हत्या कर दी जाती है और दो दलितों के घर को जला दिया जाता है और ग्यारह दलितों के साथ मारपीट की घटना होती है। आँकड़े चौंकाते हैं। शिक्षित समाज को ये आँकड़े मुँह चिढ़ाते हैं। समाज को आईना दिखाते हैं। देखो पढ़े-लिखे और समाज के ठेकेदारों, कैसे वंचितों पर जुल्म ढाये जाते हैं! राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट के अनुसार देश में प्रत्येक सप्ताह तेरह दलितों की हत्या कर दी जाती है। जबकि पाँच दलितों के घरों को जला दिया जाता है और छह दलितों का अपहरण होता है।

भारत में 2011 की जनगणना के मुताबिक़ दलितों की संख्या बीस दशमलव चौदह करोड़ है। यानी जनसंख्या के मामले में वे दुनिया के सिर्फ़ पाँच देशों से पीछे हैं। भारत में सैंतीस प्रतिशत दलित ऐसे हैं, जो सामाजिक और आर्थिक स्तर पर गरीबी रेखा से नीचे जीवन बसर करने पर मज़बूर है। (http://cpiml.in/home/index.php?view=article&id=604:crimes-against-dalits-in india&Itemid=112&option=com_content-gender and caste) सवाल दलित उत्पीड़न का है, जो थमने का नाम ही नहीं ले रहा है। सरकारी प्रयास से देश भर में अनुसूचित जाति-जनजाति थाने भी खुले हैं। आयोग भी बना हुआ है, फिर भी जुल्म सितम का दौर रुक नहीं रहा है। दलित उत्पीड़न कब तक? यह एक ऐसा सवाल है, जिसका जवाब सभ्य समाज के पास नहीं है। कहीं इसके पीछे भारतीय समाज ख़ासकर हिन्दू समाज ज़िम्मेदार तो नहीं? दलित साहित्यकार-पत्रकार मोहनदास नैमिशराय अपनी पत्रिका 'बयान' के जून, 2014 के संपादकीय में लिखते हैं कि 'भारतीय समाज ख़ासकर हिन्दू समाज में उत्पीड़न की परम्परा सदियों से रही है। चाहे वह उत्पीड़न महिलाओं पर हो या दलितों पर या फिर पिछड़ी जातियों पर ही क्यों न हो।' वहीं दलित चिंतक एच.एल.दुसाध का मानना है कि 'पन्द्रह प्रतिशत सवर्णों का शक्ति के तमाम स्रोतों पर अस्सी-पचासी प्रतिशत वर्चस्व है। पन्द्रह प्रतिशत कहना ज्यादती होगा, क्योंकि इसमें उनकी महिलाओं की भागीदारी अति न्यूनतम है। ऐसे में कहा जा सकता है कि बमुश्किल आठ-नौ प्रतिशत विशेषधिकारयुक्त लोगों का ही शक्ति केन्द्रों पर दक्षिण अफ्रीका के गोरों की भाँति ही अस्सी-पचासी प्रतिशत कब्ज़ा है।'

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि दलित मुख्यधारा से जुड़ रहे हैं। राजनीति सहित अन्य क्षेत्रों में उनकी भागीदारी सुनिश्चित हो रही है। राज्य और केन्द्र की सत्ता पर दलित राजनेता काबिज़ हो रहे हैं। इसके बावजूद दलितों पर हो रहे शोषण-उत्पीड़न की घटना जारी है। बिहार और उत्तर प्रदेश में दलित-पिछड़े सत्ता के शीर्ष पर रहें, फिर भी जुल्म-सितम का जारी होना सवाल खड़ा करता है। शायद जवाब ढूँढ़ने के लिए दलितों को ही पहल करनी होगी यानी गोलबंद होना होगा। अपनी अस्मिता के लिए ही सही, क्योंकि अब बस, बहुत हो गया।

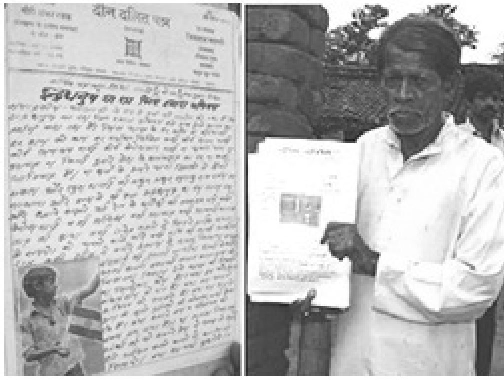

‘दीन दलित’ का संघर्ष

गौरी शंकर रजक महान हस्ती के रूप में भले ही न जाने जाते हों, लेकिन पत्रकारिता जगत में वे एक ख़ास नाम हैं। गौरी शंकर ने ऐसा काम किया है, जो भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में मील का पत्थर बन चुका है। लगभग 26 साल से अकेले अपने दम पर आठ पृष्ठों का हस्तलिखित अख़बार ‘दीन दलित’ निकाल कर गौरी शंकर रजक ने वंचितों की आवाज़ को बुलंद करने का जो काम किया है, वह इतिहास के पन्नों में दर्ज़ हो गया है। दुःखद ख़बर है कि मुद्रक, प्रकाशक, संवाददाता, लेखक, संपादक और खुद अख़बार को बेचने यानी हॉकर की भूमिका निभाने वाले गौरी शंकर रजक की कलम बंद हो गयी है। लम्बे समय से बीमार चल रहे रजक का शुक्रवार (23 नवम्बर, 2012) को निधन हो गया।

महात्मा गाँधी के मार्गों पर चलने वाले गौरी शंकर का जन्म 15 जनवरी, 1930 को तत्कालीन बिहार (अब झारखंड) के दुमका जिले के गिधनी में हुआ था। श्री रजक के पिता स्व. छेदी रजक धोबी का काम करते थे। गौरीशंकर भी पिता के ही कामों में हाथ बँटाते थे। थोड़ा-बहुत समय बचता, तो कभी-कभी स्कूल जाते। किसी तरह से दसवीं की पढ़ाई पूरी की थी।

दलित समुदाय की उनकी पीड़ा उनके सामने कई बार आयी। पिछड़ों और दलितों पर होते जुल्म से दो-चार होना पड़ा। सरकारी अधिकारियों से लेकर समाज के ऊँचे वर्ग के लोगों ने उनकी संवेदना से खूब खिलवाड़ किया। एक बार किसी काम से

सरकारी दफ़्तर का चक्कर लगाते, कई दिन बीतने और बड़े अफसरों से गुहार लगाने के बाद भी कुछ हासिल नहीं हुआ, तब एक पत्रकार ने उन्हें बताया कि पत्रकार की बात सभी सुनते हैं। यह बात उनके मन में जा बैठी। फिर तो गौरी शंकर रजक ने कलम पकड़ ली। अफ़सरों की मनमानी के खिलाफ़ उनकी कलम चल पड़ी। हाथ से लिखकर सरकारी अधिकारियों की मनमानी को लोगों के बीच उजागर करने लगे। हस्तलिखित ख़बर ने हंगामा मचाना शुरू कर दिया। देखते ही देखते दलित पत्रकार/संपादक गौरी शंकर रजक चर्चे में आ गये।

'दीन दलित' हस्तलिखित था और उसके निबंधन में परेशानी आने लगी, लेकिन श्री रजक के जज्बे को देखते हुए बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री चंद्रशेखर सिंह ने उनके हस्तलिखित हिन्दी पत्र को निकालने की अनुमति दी। हालाँकि, हस्तलिखित पत्र 'दीन दलित' से दुमका के उपायुक्त से लेकर जिला प्रशासन तक को अवगत कराया गया, लेकिन किसी ने इसे निबंधित पत्रिका का दर्ज़ा दिलाने में मदद नहीं की। गौरी शंकर रजक ने अपनी लड़ाई जारी रखी और उन्होंने देश के तत्कालीन राष्ट्रपति के.आर. नारायण को पत्र लिखकर अपनी पीड़ा जतायी। राष्ट्रपति के.आर. नारायण ने पन्द्रह दिनों के अंदर 'दीन दलित' पत्रिका को साप्ताहिक अख़बार का दर्ज़ा 02 नवम्बर, 1986 को दिलवाया।

हस्तलिखित अख़बार 'दीन दलित' वंचितों के विभिन्न पहलुओं के साथ देश-समाज के अंदर गरीबों की पीड़ा को उठाता रहा है। गौरी शंकर रजक लगातार 1986 से हाथ से लिखकर 'दीन दलित' समाचार पत्र को प्रकाशित करते रहे। इस काम के लिए उन्हें अंतराष्ट्रीय प्रेस दिवस 2008 के मौक़े पर 'जनमत मीडिया आवार्ड' से सम्मानित भी किया गया। हाल ही में एक गैर सरकारी संस्था डिजिटल इम्पावरमेंट फाउंडेशन ने 'दीन दलित पत्र' को ऑनलाइन किया है। deendalit.in पर 'दीन दलित' के पुराने अंकों को डाला गया है। गौरीशंकर रजक की लगातार बिगड़ती तबीयत और बढ़ती उम्र को देखते हुए कुछ साल पहले चार लोगों की एक टीम बनी थी, टीम में जीतलाल मरांडी, उपेंद्र गुप्ता, रविशंकर गुप्ता के साथ-साथ उनके सबसे छोटे बेटे बाबुल कुमार रजक भी शामिल हैं। अब ये लोग गौरीशंकर रजक के अरमानों को ज़िंदा रखने का फ़ैसला करते हुए हस्तलिखित अख़बार 'दीन-दलित' को नियमित रूप से निकालने में जुटे हुए हैं। गौरीशंकर रजक की ग़ैर मौजूदगी में 'दीन-दलित' का नया अंक आ चुका है। गौरीशंकर रजक ने जो पहल की थी, वह आज ज़िंदा है और यही उनके लिए सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

तिरंगा फहराने पर दलितों पर हमला
मीडिया का नज़रिया ढुलमुल

15 अगस्त, 2013 को जश्न-ए-आज़ादी के दिन जब पूरा देश स्वतंत्रता दिवस के उल्लास में डूबा था, हर ओर तिरंगा फहरा कर आज़ादी को याद किया जा रहा था, वहीं बिहार के रोहतास जिले के बड्डी थाना अंतर्गत बड्डी गाँव में तिरंगा फहराने के सवाल पर गाँव के ऊँची जाति के दबंगों ने दलितों पर हमला बोल दिया। गोलियाँ चली, लाठी व लोहे के रॉड से दौड़ा-दौड़ा कर दलितों को मारा-पीटा गया। इस हमले में एक दलित की मौत हो गयी। हालाँकि शुरुआती ख़बर में तीन के मारे जाने की ख़बर आयी। दबंगों के हमले में तीन दर्ज़न दलित घायल हो गये, जिनका इलाज़ सासाराम और पटना के अस्पतालों में चल रहा है।

तिरंगा फहराने के सवाल पर दलितों पर यह हमला सवाल छोड़ जाता है कि क्या दलित आज भी इस देश में गुलाम हैं? केन्द्र सरकार ने दलितों के हक़-हक़ूक के लिए नियम-कानून बनाये हैं। हमारे देश के संविधान ने उन्हें भी न सिर्फ़ जीवन-यापन का अधिकार दिया है, बल्कि गरिमा और समानता भी प्रदान की है। वहीं कानून और संविधान को ठेंगा दिखा कर दबंगों का यह कारनामा क्यों और कैसा?

यही नहीं, बिहार सरकार ने राष्ट्रीय पर्व पर महादलित बस्तियों में तिरंगा समारोहपूर्वक फहराने का सम्मानपूर्ण आदेश भी जारी कर रखा है। इसके लिए सरकार की ओर से तिरंगा फहराने और समारोह के लिए आर्थिक सहायता भी पिछले कई वर्षों से महादलित टोले में दी जाती रही है। इस बार भी खुद मुख्यमंत्री नीतीश कुमार पटना के नौबतपुर स्थित महादलित टोले में स्वतंत्रता दिवस के मौक़े पर झंडोतोलन के दौरान मौजूद रहे।

महादलित टोले के बुजुर्ग ने तिरंगा फहराया। सरकार के इस फ़ैसले का महादलित टोले पर व्यापक प्रभाव पड़ा, इस पहल से दलित काफी गौरवान्वित महसूस कर रहे हैं।

आज हम कितना भी गाल बजा लें, यह स्वीकारना ही होगा कि हमें आज़ादी तो मिली, लेकिन समाज में जातिवाद से छुटकारा नहीं मिल पाया है। समाज के प्रबुद्ध जाति के लोग ही जातिवाद को छोड़ना नहीं चाहते। मंदिर में दलित के प्रवेश पर रोक और प्रवेश कर जाने पर उस पर और दलितों पर हमले की ख़बर आती रहती है। हाल ही में पटना के एक गाँव में जब दलित मंदिर में प्रवेश कर गये, तो उनके साथ दबंगों ने मार-पीट की। जश्न-ए-आज़ादी के दिन रोहतास में दलितों पर हमला जाहिर करता है कि सरकार तो दलितों के उत्थान का प्रयास कर रही है, लेकिन समाज इस मुद्दे पर सरकार का साथ नहीं दे रहा है। हालाँकि, घटना के बाद क्षेत्र से संबंधित थाना के प्रभारी को निलंबित कर दिया गया और कई आरोपियों को मामले में गिरफ़्तार किया गया। यहाँ सबसे बड़ा सवाल यह है कि जहाँ की यह घटना है, वह बड्डी, निशान सिंह का गाँव है। वही निशान सिंह, जिन्होंने 1857 में सिपाही विद्रोह में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था, जो ज़मींदार रघुवर दयाल सिंह के पुत्र थे, जिन्हें सैन्य संचालन में महारत हासिल थी। बाबू कुँवर सिंह के करीबी सहयोगी निशान सिंह ने जो इतिहास रचा था, उसे आज उनके गाँव ने उसे धूमिल कर डाला। दबंगों ने दलितों पर जिस तरह से हमला किया, वह लड़ाई के मैदान जैसी रही। हमले में दलित की जान गयी और दर्जनों अब भी ज़िंदगी व मौत के बीच झूल रहे हैं।

रविदास समाज यानी चर्मकार जाति और बाबुओं यानी राजपूतों के बीच यहाँ संघर्ष हुआ। आख़िरकार बाबुओं ने खूनी धरती पर तिरंगा गाड़ दिया। स्वतंत्रता सेनानी के नाम को धुमिल कर दिया। 1857 के सिपाही विद्रोह में निशान सिंह ने सैनिकों का नेतृत्व किया था, उन्होंने आजमगढ़ किले पर धावा बोल कर अंग्रेज़ों को हराया था।

इस पूरी घटना के पीछे एक ज़मीन का टुकड़ा बताया जा रहा है। इस पर आधिपत्य को लेकर वर्षों से राजपूत और रविदास समुदायों के बीच चल रहा आपसी विवाद मुख्य कारण माना जा रहा है। बड्डी गाँव में रविदास समुदाय द्वारा निर्मित रविदास मंदिर के बगल में एक ज़मीन का टुकड़ा है, जो बिहार सरकार के अधीन है। इस ज़मीन पर दोनों समुदायों के लोग अपना हक़ जताते रहे हैं। राजपूत समुदाय के लोग इस ज़मीन पर 1857 के सिपाही विद्रोह के स्थानीय नायक निशांत सिंह के स्मारक का निर्माण करवाना चाहते हैं। इसी क्रम में इन लोगों ने ज़मीन के इस टुकड़े पर एक चबूतरे का भी निर्माण करा दिया है। वहीं रविदास समुदाय के लोग मंदिर के बगल में ज़मीन होने के कारण स्वाभाविक रूप से अपनी दावेदारी इस पर जताते रहे हैं। रविदास मंदिर में जहाँ रविदास समुदाय के लोग प्रतिवर्ष गणतंत्र दिवस और स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर झंडोतोलन करते हैं, वहीं चबूतरे पर राजपूत समुदाय के लोगों द्वारा झंडोतोलन किया जाता है। दोनों के बीच व्याप्त तनाव को देखते हुए पुलिस प्रशासन ने दोनों समुदाय

के लोगों को समझा-बुझा दिया था, लेकिन 15 अगस्त की सुबह चबूतरे पर झंडा फहराने के क्रम में दोनों समुदायों के बीच आपसी विवाद हुआ, जो खूनी झड़प में बदल गयी। राजपूतों ने रविदास समुदाय के लोगों के घरों में भी घुसकर मारपीट की।

पी.एम.सी.एच. पटना में हमले में घायल पति का इलाज करा रही प्यारी देवी कहती हैं, ''ऊ सब चाहत रहे कि निशान के बैठाइम। हमनी कहनी, दुआर पर घर उठावे के चाहब तो उठाबे देही कउनो, थाना कहलस दूनो झंडा न फरहाइ। हमनी मान गइली। पर ऊ सब झंडा फहरादेलस, महिला-मरद, लइका सबके मारलस...बंदूक फायर से, थानो साथ रहे।''

तेजा राम बताते हैं कि उनकी कमर तोड़ दी गयी है। वे कहते हैं, ''मारले बा राजपूत सब पानी में हेइला-हेइला के, मंदिर के आगे झंडा फहरावे के का जरूरत रहे। पर मार के जबरदस्ती फहरइलस झंडा। मार के डांड़ तोड़ देले बा।''

पी.ए.म.सी.एच. में ही भर्ती हैं राहुल, जिसकी उम्र मुश्किल से सोलह बरस है, उसके सिर में चोट लगी। उसकी माँ कश्मीरा देवी कहती हैं, ''झंडा फहरात रहे, त भइल तोहनी के जगह नहखे हमनी के बा, बस मार के गिरा देलस, एक घंटा गोली चलइलस.. और झंडा फरहा देलस.. ईंटा, पत्थर, लाठी से मारलस.. घर ढाह देलस, किवाड़ी तोड़ के चोरा के ले गेलस, हमार बेटा बोलत रहे, लेकिन अब बोलते नइखे, का करीं (झंडा फहराने की तैयारी चल रही थी, तब उन लोगों ने कहा कि यह उनकी ज़मीन है, हमारी नहीं। बस फिर उन लोगों ने हमें मार गिराया। एक घंटा तक गोली चली। हमारे बेटे की जुबान चली गयी है, वह बोल नहीं पा रहा है।)''

मंगरू का हाथ टूट गया है। वो कहते हैं– ''बाबू साहब सब मार के तोड़ देलस हाथ..'' मंगरू के कुर्ते पर खून के कई धब्बे हैं, कुर्ते का रंग लाल हो गया है। मंगरू बहुत बात करने की स्थिति में नहीं हैं। मंगरू के नाती दशरथ राम बताते हैं, ''लाठी-डंडा से मार भइल कि चालीस राउंड गोली चलल। निशान जी के स्मारक बैठावे खातिर और झंडा फहरावे खातिर इस सब भइल, सब बाबू साहब सब मारले बा।'' (लाठी-डंडे से मारपीट हुई। चालीस राउंड गोली चलायी गयी। वे चाहते थे, निशान जी का स्मारक बने और झंडा फहराया जाये। बाबू साहबों ने हमें मारा है। बड्डी से इलाज के लिए पी.एम.सी.एच. आये लोगों में महिला चंपा भी है। चंपा के शरीर में कई जगह गंभार चोट है। उसे उलटने-पटलने में भी दिक्कत हो रही है। उसने बताया कि– ''हम भाग गइले रहलीं, तभियो घर में घुस के मारलस, छैबर सिंह, विनोद सिंह, शंभू सिंह मारलस.. ऊ कहत रहे कि झंडा फहरा के रहम, घर से घींच के मारलस, दू घंटा गोली चलवस और चार घंटा लाठी बरसल.. हमार पूरा शरीर पर लाठी से मारले बा...'' **(पूरी बातचीत टी.वी. पत्रकार प्रणय प्रियंवद के सौजन्य से)**

रोहतास की इस ख़बर पर बिहार के मीडिया का नज़रिया ढुलमुल रहा। केवल अंग्रेज़ी अख़बारों ने ख़बर को तरजीह दी है, जबकि बिहार के बड़े हिन्दी अख़बार

हिन्दुस्तान, जागरण सहित अन्य ने इस ख़बर को गुटीय संघर्ष करार दिया। दैनिक हिन्तुस्तान ने ख़बर को अहमियत न देते हुए पेज अठारह पर 'रोहतास में दो गुट भीड़े, एक मरा', शीर्षक से ख़बर प्रकाशित किया, जबकि दैनिक जागरण ने पृष्ठ संख्या तेरह पर 'झंडोत्तोलन को लेकर दो गुट भीड़े, एक की मौत' शीर्षक से ख़बर को प्रकाशित किया। इसमें कहीं भी दलितों पर दबंगों के कहर को रेखांकित नहीं किया गया। हिन्दुस्तान ने भी अपनी खबर में दलितों पर हमला की चर्चा नहीं की। इन अख़बारों ने दो गुटों के बीच मारपीट और गोलीबारी का हवाला दिया। प्रभात ख़बर ने पृष्ठ संख्या तेरह पर 'रोहतास में झंडोत्तोलन को लेकर हुई हिंसक झड़प, एक की मौत, बयालीस घायल' से ख़बर को प्रकाशित किया। आज अख़बार ने पेज छह पर सिंगल कॉलम की ख़बर छापी। वहीं टाइम्स आफ इंडिया ने ख़बर को अहमियत देते हुए पहले पेज पर प्राथमिकता के साथ 'दलित किल्ड, फार्टी हट्स फार होस्टिंग फ्लैग इन रोहतास' से विस्तार से ख़बर को छापा। हिन्दुस्तान टाइम्स ने भी पहले पेज और विस्तार से पेज संख्या चार पर ख़बर को प्रकाशित किया। हिन्तुस्तान टाइम्स ने शीर्षक लगाया कि 'दलित किल्ड इन रोहतास फ्लैग होस्टिंग। अख़बारों में अलग-अलग नज़रिये से छपी ख़बरों से साफ़ होता है कि उनका दलितों के प्रति नज़रिया क्या है?

जश्न-ए-आज़ादी के दिन तिरंगा फहराने पर दलितों पर हमला की घटना का राजनीतिक गलियारे में भी निंदा हुई। लोकसभा अध्यक्ष मीरा कुमार, प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष अशोक चौधरी, जो खुद दलित हैं, सहित तमाम दलों के नेताओं ने घटना को अमानवीय और विचलित करने वाला बताया। लेकिन सवाल यह है कि शोक जताने व निंदा कर देने भर से काम चल जाएगा? फिर कुछ दिन-महीने बाद एक और घटना घटेगी और बस खेद प्रकट कर दिया जाएगा। मंथन की ज़रूरत है, क्यों दलितों पर ही आज़ाद भारत में दबंग जातियों का कहर टूटता है? **(दलित दस्तक में प्रकाशित)**

अंतरजातीय प्रेम
कहर दलितों पर, मीडिया की खामोशी

मंदिर में प्रवेश के सवाल पर 15 अगस्त के मौक़े पर तिरंगा फहराने के सवाल पर, मज़दूरी माँगने के सवाल पर......और भी कई सवाल हैं, उनको लेकर दलितों पर दंबग द्विजों का कहर समय-समय पर ढाया जाता रहा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि सत्ता-प्रशासन में वंचितों के काबिज़ रहने के बावजूद यह कहर जारी है। एक के बाद एक दलित उत्पीड़न की घटना बिहार में हो रही है, जहाँ सरकार खामोश है, वहीं पर सभ्य समाज भी इन पर अपनी आखें मूँदे हुए है। कहने के लिए सभ्य और पढ़े-लिखे हो गये हैं, लेकिन व्यवहार जानवर से भी बदतर है। समाज का सवर्ण वर्ग वंचितों को आज भी दोयम दर्ज़े का समझता है। ऐसा ही कुछ बिहार के खगड़िया जिला मुख्यालय से करीब पचास किलोमीटर दूरी पर अवस्थित शिरोमनी टोला के एक दलित युवक का द्विज लड़की से प्रेम करने के बाद सामने आया। अंतर्जातीय विवाह को दबंग द्विज पचा नहीं पाये और टोला के दलित परिवारों पर जो कहर बरसाया, उससे वे लोग दहशत के साये में चले गये। कहर इतना प्रबल था कि यहाँ के दलित लोग सामंती लोगों के भय से अपने घर को छोड़ दूसरे गाँव में शरण ले लिये। यहीं नहीं, दलित लोगों पर द्विज-सामंती लोगों ने इस तरह जुल्म-सितम ढाया है कि वह उसके जवाब में गाँव को सदा के लिए छोड़ने को तैयार हैं। हालाँकि प्रशासन ने प्रभावित पीड़ितों को पुनः घर वापस लौटने के लिए दबाव भी बनाया।

घटना स्थल यानी शिरोमनी टोला का सामाजिक समीकरण यह है कि भूमिहार जाति के लोगों की अधिक संख्या है, लेकिन उनकी तुलना में दलित जाति की आबादी कम

है। घटना के पीछे सांमती सोच सामने आयी है। बताया जाता है कि दलित जाति के एक युवक के साथ उसी गाँव की एक भूमिहार लड़की का प्रेम हो गया। जब इस बात की जानकारी लड़की के माता-पिता और गाँव वालों को लगी, तो लड़के पर पाबंदी लगा दी गयी और लड़की को अपने ही स्वजाति के युवक के साथ मार्च 2015 में बेगूसराय जिले में शादी करा दी गयी, लेकिन लड़की अपने प्रेमी के साथ ही रहना चाहती थी। शादी के दसवें दिन वह अपने प्रेमी के साथ ससुराल से भाग गयी। हालाँकि परिजनों के शिकायत के बाद लड़की को पुलिस ने बरामद कर लिया। लड़की ने पुलिस के सामने जो बयान दिया, उसमें वह ससुराल और मायके जाने को तैयार नहीं हुई। उसने अपने प्रेमी के साथ ही रहने की बात कही, जो उच्च जाति के लोगों को स्वीकार नहीं हुआ। स्वाभिमान पर चोट लगी और गाँव में पंचायत बुलायी गयी। पंचायत में उच्च जाति के सभी लोगों को बुलाया गया। ख़बर यह है कि इसमें एक बात यह सामने आयी कि इस पंचायत में उच्च जाति के बड़े लोग शिरकत नहीं किये, लेकिन पंचायत के सरपंच और मुखिया के रिश्तेदार पहुँचे और लोगों से विचार-विमर्श किया। इसके बाद दलित जाति (तांती) के घरों पर हमला बोल दिया गया। 27 जुलाई को एक साथ दो सौ से अधिक लोगों ने तांती जाति के घरों पर हमला बोला। लाठी डंडे से लैस उच्च जाति के लोगों ने जमकर तांडव मचाया। हमले के दौरान महिला, पुरुष, बच्चे, बुजुर्ग सभी के साथ मारपीट किया गया। कुछ ऐसी भी घटनाएं यहाँ पर सामने आयी, जिसमें मानवता को भी शर्मसार किया गया।

इस घटना में दबंगों का शिकार बनी अशोक तांती की गर्भवती पत्नी को इसी माह में डिलिवरी होनी थी। दंबगों ने गर्भवती महिला को भी जमकर पीटा और घर का सारा सामान लूट लिया गया। पीड़ित महिला ने मीडिया को बताया कि अचानक उनके घर में गाँव के ही पप्पू राय, घोलटा राय, दीपक राय व उसके चार-पाँच साथी घुसकर गाली-गलौज करते हुए मारपीट करने लगे और घर में तोड़-फोड़ किया। पीड़िता ने बताया कि जब वे अपने बच्चों के संग घर के एक कोने में छिप गयी, तो उसे जबरन घसीट कर बाहर लाया गया तथा बेरहमी से पिटाई की। इस दौरान पीड़ित महिला बेहोश हो गयी, जिसे बाद में लोगों ने उसके मानसी ठाठा स्थित रिश्तेदार के घर पहुँचा दिया। महिला को एक निजी अस्पताल में भर्ती कराया गया, तो डाक्टरों ने बताया कि उसके पेट में पल रहे बच्चे की मौत हो चुकी है। इसके बाद महिला की हालत नाजुक बनी हुई है। ऐसी कई और महिलाएं और युवतियाँ हैं, जिसके साथ दंबगों ने मारपीट व दुर्व्यवहार किया।

घटना के बाद जब पुलिस को मामले की जानकारी मिली, तो वहाँ पर पहुँची, लेकिन पुलिस के साथ भी उच्च जाति के लोगों ने बदसलूकी की। पूर्व मंत्री और विधायक रामानंद सिंह के पंचायत की इस घटना के बाद पुलिस को गाँव में लगा दिया गया। प्रशासन के आलाधिकारी पहुँचे, लेकिन उच्च जाति के लोग दूसरे दिन भी दलितों

पर कहर ढाते रहे। आख़िरकार प्रशासन के सामने पूरे गाँव की लगभग दो सौ की आबादी गाँव से पलायन कर गयी। घटना के बाद अपने बाप-दादा की संपत्ति को छोड़कर दलित जाति के लोग आज दूसरे गाँव में शरण लिये।

इधर घटना के बाद भागलपुर के आई.जी. बच्चू सिंह मीणा ने भी शिरोमनी गाँव का दौरा किया और पीड़ित परिवारों से मिले। उन्होंने दोषी लोगों पर कार्यवाही का आश्वासन के साथ सुरक्षा का भी भरोसा दिलाया। घटना की जानकारी मिलने के बाद विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं ने गाँव का दौरा कर घटना की जानकारी लेने के बाद घटना को अमानवीय करार किया। राजद, सी.पी.एम., सी.पी.आई. और जनाधिकारी मोर्चा के नेताओं ने पीड़ितों से मुलाक़ात की। राजनीतिक दलों ने दोषियों के विरुद्ध स्पीडी ट्रायल चलाकर सज़ा की माँग की है। वहीं पुलिस ने इस घटना के बाद मामला दर्ज़ कर नयागांव के मुखिया पति, सरपंच पति समेत चार लोगों को गिरफ़्तार किया गया है। स्थानीय मीडिया में ख़बर के आने के बाद थोड़ी सरगर्मी बढ़ी। राजनीतिक हलचल हुई, लेकिन इसका दायरा कम ही रहा। वहीं राजधानी पटना का मीडिया मुखर नहीं दिखा। घटना को किसी ने हल्के में लिया, तो किसी ने नोटिस लेने की कोशिश भी नहीं की। विधानसभा सत्र के दौरान हल्के में उठे सवाल को भी राजधानी के मीडिया ने कोई ख़ास तरजीह नहीं दी, जो कार्रवाई होनी चाहिये थी, वह धरातल पर नहीं दिखी। पुलिस-प्रशासन केवल पड़ितों को वापस गाँव लाना चाहता है। वह पहल नहीं दिखती, जिसके तहत दलित सामाजिक दृष्टिकोण से द्विजों के बराबरी के तहत जीवन जी सकें, जो कि हर मानव का अधिकार है। दलित उत्पीड़न की बिहार में यह कोई नयी घटना नहीं है। (**शुक्रवार 16-31 अगस्त 2015 में प्रकाशित**)

मीडिया में डॉ. आम्बेडकर

समाचार पत्रों के प्रकाशन के पीछे ख़ास मक़सद को नकारा नहीं जा सकता। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अभिव्यक्ति के मद्देनज़र इसे एक मिशन के तहत अंजाम दिया गया। स्वतंत्रता संग्राम में पत्र और पत्रकारिता को सिपाही की भूमिका में देखा गया। महात्मा गाँधी, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, पंडित मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना आज़ाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, राजा राममोहन राय, ज्योतिबा फूले, डॉ. भीम राव अम्बेडकर आदि ने अपनी बात जनता तक पहुँचाने के लिए समाचार पत्रों का सहारा वैचारिक हथियार के तौर पर किया। इनके पत्र समाचार के लिए कम, विचारों के लिए ज्यादा पढ़े जाते थे। वहीं दूसरी ओर अंग्रेज़ी हुकूमत द्वारा संचालित पत्रों में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के बारे में ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति, इतिहास और परम्परा को भी तोड़-मोड़कर विचारों के माध्यम से पेश किया जाता था।

साहित्यिक पत्रकारिता, धार्मिक पत्रकारिता, भाषाई पत्रकारिता और जातिगत पत्रकारिता का इस्तेमाल कर सभी ने अपने-अपने विचारों, मतों और सोच को स्थापित करने की कोशिश की। सबने अपनी-अपनी ज़रूरतों के मद्देनज़र पत्रकारिता को हथियार के रूप में प्रयोग किया। वैचारिक सोच को अपने लोगों तक पहुँचाते हुए उन्हें गोलबंद करने का काम किया गया। आज जब साहित्यिक, धार्मिक, भाषाई और जातिगत पत्रकारिता पर नज़र डालते हैं, तो उनके स्वरूप में वह धार नहीं दिखती, जिसे लेकर वे सामने आये थे। जबकि वस्तुस्थिति आज भी प्रासंगिक है। कहा जा सकता है कि ज्यादातर ये सिमट कर ही रह गये हैं या फिर एक साज़िश की तरह चीज़ों को

गोल कर देते हैं। वहीं दूसरी ओर भूमण्डलीकरण के दौर में हर कोई व्यावसायिक नज़रिये को सामने लाने से नहीं चूक रहा है। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आंदोलन की बात हो या फिर देश-दुनिया को राह दिखाने वाले महान व्यक्ति के विचारों की। पत्रकारिता में वह सब अब नहीं के बराबर दिखता है।

आज मीडिया में विचारों की लड़ाई लड़ने वाले विद्वानों, ख़ासकर वंचित वर्ग के चिंतकों ज्योतिबा फूले, पेरियार, डॉ. भीम राव आम्बेडकर को नज़रअंदाज किया जा रहा है। विचार या समाचार आते भी हैं, तो उनकी पुण्यतिथि या जयंती के अवसर पर ही। फिर भी वे अपना दिव्य चेहरा दिखाने से बाज नहीं आते। संविधान निर्माता बाबा साहेब डॉ. भीम राव आम्बेडकर के महापरिनिर्वाण दिवस 06 दिसम्बर, 2015 की ख़बरों को मीडिया में पहले पृष्ठ में एक कॉलम तक की जगह नहीं दी गयी थी। राष्ट्रीय और स्थानीय समाचार पत्रों ने बाबा साहेब को प्रथम पृष्ठ पर जगह न देकर अपने चरित्र पर लगे दाग को उजागर कर दिया। भारतीय मीडिया पर दलितों-वंचितों को नज़रअंदाज़ करने का आरोप तो लगता ही रहा है।

भारत सरकार ने बाबा साहेब के महापरिनिर्वाण दिवस पर देश के तमाम अख़बारों के 06 दिसम्बर, 2015 के अंक के लिए पूरे पृष्ठ का विज्ञापन जारी किया था। तमाम अख़बारों ने इस विज्ञापन को छापकर मुनाफ़ा बटोरा था, लेकिन बाबा साहेब के महापरिनिर्वाण दिवस की ख़बर को उतनी अहमियत नहीं दी गयी, जितनी मिलनी चाहिए थी।

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने नई दिल्ली में बाबा साहेब की स्मृति पर दस और एक सौ पच्चीस रुपये के स्मारक सिक्के जारी किये थे। यह ख़बर भी प्रमुखता से ख़बर नहीं बनी थी और न ही तस्वीर को मुख्य पृष्ठ पर छापने की जहमत अख़बारों ने उठाया। हालाँकि, बिहार से प्रकाशित एक मात्र दैनिक आज ने फोटो छापा। राष्ट्रीय पत्रों में यह लगभग नदारद रहा। बिहार से प्रकशित तमाम दैनिक पत्रों ने अपने मुख्य पृष्ठ पर बाबा साहेब के महापरिनिर्वाण दिवस की ख़बर को एक कॉलम तक नहीं दिया। दैनिक हिन्दुस्तान ने दूसरे पृष्ठ पर एक चित्र छापा। पेज नम्बर आठ पर ख़बर प्रकाशित की। दैनिक हिन्दुस्तान ने बाबा साहेब की राष्ट्रीय ख़बर को देश-विदेश पेज इक्कीस पर तीन कॉलम में प्रकाशित किया था। वहीं दैनिक भास्कर ने भी पहले पृष्ठ पर बाबा साहेब की न तस्वीर छापी, न ख़बर। पृष्ठ चार एवं पृष्ठ सात पर उन्हें जगह दी। जबकि राष्ट्रीय ख़बर को पृष्ठ संख्या सत्रह पर फोटो के साथ छापा गया, लेकिन ख़बर में बाबा साहेब नज़र नहीं आये। यही हाल दैनिक जागरण का रहा। दैनिक जागरण ने दूसरे नम्बर पेज पर दो कॉलम में तस्वीर के साथ जगह दी थी, जबकि राष्ट्रीय ख़बर को पेज नम्बर बारह पर चार कॉलम में जगह मिली थी। यहाँ भी बाबा साहेब की कोई तस्वीर नहीं छापी गयी थी। आज अख़बार ने भी दूसरे नम्बर पर तस्वीर के साथ राजधानी पटना में बाबा साहेब से जुड़ी कई ख़बरों को जगह दी थी। साथ ही पृष्ठ संख्या नौ पर सिक्का

जारी करते हुए प्रधानमंत्री की तस्वीर के साथ ख़बर प्रकाशित किया गया। राष्ट्रीय सहारा ने भी दूसरे पेज पर फोटो के साथ बाबा साहेब की फोटो छापी थी। राष्ट्रीय ख़बरों को तस्वीर के साथ पृष्ठ संख्या तेरह पर जगह मिली थी। प्रभात ख़बर के पृष्ठ संख्या दस पर फोटो के साथ जगह दी गयी। राष्ट्रीय ख़बर में देश-विदेश पेज संख्या बीस पर जगह मिली। अंग्रेजी अखबार टाइम्स आफ इंडिया ने भी पहले पृष्ठ पर बाबा साहेब कोई ख़बर नहीं छापी। पृष्ठ संख्या सात पर प्रधानमंत्री की ख़बर फोटो के साथ छापी। हिन्दुस्तान टाइम्स एकमात्र अंग्रेजी अख़बार रहा, जो बाबा साहेब के महापरिनिर्वाण दिवस पर प्रधानमंत्री की तस्वीर को जगह दी। स्थानीय ख़बर को पृष्ठ संख्या तीन पर जगह दी गयी।

दिल्ली से प्रकाशित अख़बारों का हाल भी बुरा रहा। नवभारत टाइम्स ने प्रथम पेज पर संसद परिसर में बाबा साहेब के महापरिनिर्वाण दिवस मनाने आये प्रधानमंत्री मोदी और अन्य की तस्वीर छापी। ख़बर के नाम पर छोटा-सा बॉक्स न्यूज दिया गया। दैनिक हिन्दुस्तान हो या दैनिक जागरण या अन्य पत्र अमूमन सभी ने प्रथम पेज पर जगह नहीं दी। मीडिया के रवैये से आहत 'सम्यक भारत' के संपादक के.पी. मौर्य ने फेसबुक पर अपना विरोध जताया। उन्होंने लिखा कि डी.ए.वी.पी. द्वारा 6 दिसम्बर 2015 बाबा साहेब डॉ. आम्बेडकर के परिनिर्वाण दिवस पर दो दिन पूरे पृष्ठ का रंगीन विज्ञापन लगभग सभी दैनिक समाचार पत्रों को जारी किया, जिनमें से एक भी समाचार पत्र दलित व्यक्ति द्वारा संचालित नहीं है, लेकिन 7 दिसम्बर के 'जनसत्ता' समाचार पत्र को देखा, तो हैरान रह गया। बाबा साहेब डॉ. आम्बेडकर के परिनिर्वाण दिवस पर आयोजित मुख्य समारोह जिसमें राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री एवं केन्द्रीय मंत्री शामिल थे और ऐसा ही एक समारोह प्रधानमंत्री निवास पर बाबा साहेब डॉ. आम्बेडकर स्मारक सिक्का जारी करने का भव्य समारोह, विज्ञान भवन में श्रम मंत्रालय द्वारा आयोजित समारोह में से किसी एक को भी प्रमुखता से रंगीन चित्र के साथ समाचार प्रकाशित नहीं किया।

यह पहला मौक़ा नहीं है। अक्सर देखा जाता है कि दलितों-वंचितों के नायकों-महानायकों को मीडिया तरजीह नहीं देता है। पुण्यतिथि हो या जयंती संपादकीय पृष्ठ की बात दूर, पहले पेज पर ख़बर नहीं दी जाती है। दी भी जाती है, तो अंदर के पेज पर बिना प्रमुखता से लगा दिया जाता है। सवाल उठता है कि संविधान निर्माता और दलित-वंचितों की आवाज़ बाबा साहेब क्या प्रथम पृष्ठ के लायक नहीं हैं? या फिर जान-बूझ कर मीडिया ने उन्हें अंदर के पृष्ठों में जगह दी? जहाँ स्थानीय पत्रों ने बाबा साहेब की तस्वीर छापी, वहीं राष्ट्रीय समाचार पत्रों ने राजनेताओं को जगह दी। दलितों के मसीहा के साथ यह भेदभाव कहीं मीडिया के बाज़ारवाद या फिर उनकी सोच की देन तो नहीं? कहने के लिए बाबा साहेब को मीडिया में जगह मिली, लेकिन प्रमुखता से नहीं।

इसके पीछे तर्क यह है कि शुरू से ही भारतीय मीडिया पर उच्च जातियों का कब्जा

बराबर रहा है। मीडिया को संचालित करने वाले लोग ऊपरी तौर पर वर्ग संघर्ष और वर्ण व्यवस्था के खिलाफ दिखते जरूर हैं, लेकिन सच्चाई कुछ और ही है। वे नहीं चाहते कि मुख्यधारा से दबे-कुचले लोग सामने आयें। जाहिर है, जब मीडिया में बाबा साहेब का विचार या सोच लोगों के सामने आएंगे, तो लोग प्रभावित होंगे और गोलबंद भी होंगे। संघर्ष की ज़मीन तैयार होगी। मीडिया को विचारों से नहीं, ख़बरों से मतलब है। आज विजन नहीं झलकता है। झलकता भी है, तो उसमें बाज़ारवाद दिखता है। अख़बार में क्या जाएगा या नहीं, यह सब संपादक की सोच पर टिकी है। और हम जानते हैं कि ज्यादातर संपादक ब्राह्मणवाद की गिरफ़्त में हैं। ऐसे में बाबा साहेब जिस वर्ग से आते हैं, उन्हें भला क्यों वे तरजीह दें? अख़बारों का स्लोगन बड़ी-बड़ी बातें करता है। कोई अख़बार को आंदोलन बताता है, तो कोई कुछ और।

बाबा साहेब के विचारों या फिर दलित मुद्दों को, राष्ट्रीय व स्थानीय मीडिया में वह स्थान नहीं मिलता, जो महाराष्ट्र में मिलता है। पत्रकारिता के इतिहास को देखा जाये, तो महाराष्ट्र के समाज सुधारकों ने दलितों को जागृत करने के ख्याल से पत्र निकाले, बल्कि सिलसिला जारी है। जो दलित समाज के थे और दलितों की पीड़ा से परिचित थे। पत्रों का प्रभाव अखिल भारतीय दलित समाज पर पड़ा। इन समाचार पत्रों द्वारा दलितों की व्यथा, उनके प्रश्न समाज और शासन के सामने खुलकर रखने का काम किया गया। दलितों के समाचार पत्रों से दलितों में वैचारिक क्रांति आने लगी और वे संघर्ष करने के लिए तैयार होने लगे, लेकिन यह सब बिहार के परिप्रेक्ष्य में नहीं दिखा। स्थिति आज भी वैसी ही है। दलित मुद्दों या फिर बाबा साहेब को लेकर पत्र निकले भी तो उनका दायरा व्यापक नहीं हो पाया है। दलित सरोकार से जुड़े लोग कहते हैं कि इसके पीछे वजूद का मज़बूत नहीं होना है, जो बाकी पर भारी नहीं पड़ सका। और फिर तथाकथित सवर्णों का वह नज़रिया, जो पूर्वाग्रह से ग्रसित है, बदल नहीं सका है।

महाराष्ट्र में 19वीं सदी में मराठी समाचार पत्रों पर ब्राह्मण वर्ग का कब्ज़ा था और उनके द्वारा निकाले गये समाचार पत्रों में दलितों के प्रश्नों नज़रअंदाज किया जाता था। साथ ही बहुजन समाज के प्रश्नों, उनकी मूलभूत समस्याओं पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता था। जाहिर है, ऐसे में दलित वर्ग के बीच छटपटाहट देखी गयी। सबसे पहले महात्मा ज्योतिराव फुले सामने आये, उन्होंने दलित समाज की पीड़ा को समझते हुए क्रांतिकारी कदम उठाया। फुले ने पुराने विचारों को उखाड़ फेंका और नये क्रांतिकारी विचार स्थापित करने के लिए दलितों को गोलबंद किया। उनका मक़सद साफ़ था कि वर्षों से सवर्ण जाति के चंगुल में फंसे दलितों को उनके जाल से बाहर निकालना। धर्म और सामाजिक बंधनों का वास्ता देकर गुलाम बनाये गये दलितों के अंदर छटपटाहट देखी गयी। उन्हें गुलामी से छुटकारा दिलाने के लिए फुले ने लेखन को हथियार बनाया। फुले के प्रयासों से दलित और बहुजन समाज में शिक्षा का प्रसार होने

लगा। कोंकण के महाड़ जिले के रावदक गाँव में एक अछूत (महार) जाति में जन्मे अस्पृश्य समाज के पहले पत्रकार गोपाल बाबा बलंगकर ने बीड़ा भी उठाया और दलितों के प्रश्न खुद दलितों द्वारा ही उठाने की वकालत करते हुए दलितों को गोलबंद करने का प्रयास किया।

शुरुआती दौर में जो भी दलित समाचार पत्र छपे, सभी सामाजिक प्रश्नों को उठाते रहे। इन पत्रों ने दलितों पर होने वाले अन्याय, अत्याचारों को आवाज़ प्रदान कर दलितों के बीच एक सार्थक सोच विकसित किया। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से फुले, बाबा साहेब डॉ. आम्बेडकर आदि के विचारों को जनता तक पहुँचाया जाने लगा। उस समय पाठक कम थे और श्रोता अधिक। क्योंकि दलित शिक्षा का सूचकांक बहुत नीचे था। कबीरपंथी साधु बौद्ध भिक्षु बनने लगे थे। ये ही लोग घर-घर जाकर बुद्ध व बाबा साहेब का संदेश पहुँचाते थे।

बाबा साहेब के विचार केवल दलितों के लिए ही नहीं, बल्कि समाज-देश के हर व्यक्ति के लिए ज़रूरी और हितकर हैं। देश को आगे बढ़ाने के लिए समाज को जोड़कर आगे करना होगा और इसके लिए जो मुख्यधारा से कटे हैं, ख़ास कर दलित वर्ग, उन्हें गोलबंद करके ही आगे बढ़ा जा सकता है। इसके लिए स्वस्थ विचारों का होना ज़रूरी है और यह विचार मीडिया के माध्यम से हजारों-लाखों-करोड़ों लोगों तक आसानी से पहुँच सकता है।

कब दूर होगी दलितों की शिकायत

जनगणना 2011 में जातिगत जनगणना की चर्चा मात्र से ही भूचाल-सा आ गया था। मीडिया में एक तरह का अघोषित युद्ध लेखकों ने छेड़ दिया, जो आज भी जारी है। कोई विरोध में खड़ा है, तो कोई समर्थन में। हाल आरक्षण वाला है। तर्क पर तर्क दिये जा रहे हैं। सच्चाई को दरकिनार कर हर कोई अपनी बात मनवाने में लगा है कि वह जो कह रहा है, वही सच है बाकी सब गलत? लेकिन सबसे बड़ा सवाल यह है कि जातिगत जनगणना का विरोध आख़िर क्यों? तर्क दिया जा रहा है कि इससे मानव-मानव में दूरी बढ़ेगी, जातिवाद को बढ़ावा मिलेगा। सच यह है कि आज के भारतीय वर्ण व्यवस्था वाले समाज में हर कोई इसके घेरे में है। आज़ादी के इतने सालों बाद भी सवर्ण सामाजिक व्यवस्था में किसी ने न तो दलितों को अपनाया और न ही बराबरी का दर्ज़ा दिया। आज भी उनके मंदिर में घुसने पर अघोषित रोक है, हक़ की बात करने पर दलित की जीभ काट ली जाती है, सरेआम मारा-पीटा जाता है, उनके लिए अलग से कुँआ और न जाने क्या-क्या? दलितों के साथ होते अन्याय की चर्चा आये दिन मीडिया में होती रहती है। कहने के लिए उन्हें आरक्षण मिला है, जिस पर समाज का एक तबका नाक-भौं सिकोड़ता रहता है। वर्षों से समाज के अंदर जो बराबरी-ग़ैरबराबरी का मामला है, बरकरार है।

सवाल उठता है कि क्या सवर्ण समाज ने दलितों को बराबरी का हक़ दिया है? आश्चर्य है कि आज हम जाति का विरोध कर रहे हैं। विरोध करने वालों ने कभी जाति आधारित समाज को ख़त्म करने की बात की है? किया भी, तो हल्के ढंग से। जातिगत सूचक उपनाम(सरनेम) को हटा नहीं पाये। बात केवल दलितों के लिए नहीं है। यही

बात ओ.बी.सी. के साथ भी है। खतरा सवर्ण समाज को दिखने लगा है। समाज की बागडोर अपने पास रखने वाले सवर्ण समाज की जब जातिगत व्यवस्था को तोड़ने में कोई भूमिका नहीं रही, तो आख़िर जातिगत जनगणना से उनके पेट में मरोड़ क्यों? चलिये 1914 में लिखी हीरा डोम की कविता पर नज़र डालते है, जो आज भी देश के कई क्षेत्रों में प्रासंगिक नज़र आती है।

अछूत की शिकायत
-हीरा डोम

हमनी के राति-दिन दुःखवा भोगत बानी
हमनी के सहेब से मिली सुनाइबि।
हमनी के दुःख भगबनबो न देख तारे,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पादरी सहेब के कचहरी में जाइबजां,
बेधरम होके रंगरेज बनी जाइबि।
हाय राम! धरम न छोड़ते बनत बाटे
बेधरम होके कइसे मुँहवा देखाइबि।
खंभवा के फारि प्रहलाद के बचवले जा,
ग्राह के मुँह से गजराज के बचवले।
धोती जुरजोधना कै भइया छोरत रहै,
परगट होके तहाँ कपड़ा बढ़वले।
मरले रवनवां के पलले भभिखना के,
कानी अंगुरी पै धैके पथरा उठवले।
कहवां सुतल बाटे सुनत न बाटे अब,
डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले।
हमनी के राति-दिन मेहनत करीलेजां,
दुइगो रुपयवा दरमहा में पाइबि।
ठाकुर के सुखसेत घर में सुतल बानीं,
हमनी के जोति-जोति खेतिया कमाइबि।
हाकिमे कै लसकरि उतरल बानीं,
जेत उहओं बेगरिया में पकरल जाइबि।
मुँह बान्हि ऐसन नोकरिया करत बानीं,
ई कुलि खबरि सरकार के सुनाइबि।
बभने के लेखे हम भिखिया न मांगबजा,

ठाकुरे के लेखे नहि लउरी चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहि डंडी हम मारबजां,
अहिरा के लेखे नहि गइया चरइबी।
भंटउ के लेखेन कवित्त हम जोरबजां,
पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि।
अपने पसिनवां के पइसा कमाइबजां,
घर भर मिली-जुली बांटि-चोंटि खाइबि।
हड़वा मसुइया कै देहियां है हमनी कै,
ओकरै के देहियां बभनबो कै बानी।
ओकरा के घरै-घरै पुजवा होखत बाजे,
सगरै इलकवा भइलै जजमानी।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइलेजां,
पांके में से भरि-भरि पिय तानी पानी।

('सरस्वती' के सितम्बर,1914 में प्रकाशित)

हीरा डोम ने उस समय के दलित समस्या को जिस ढंग से कविता में रखा, उसका स्वरूप आज भी बरकरार है। दलित के दुःख-दर्द और उसकी पीड़ा के प्रति समाज ही नहीं, भगवान द्वारा आँख मूँद लेने पर उन्हें कोसते हुए, उस पीड़ा से निकलने के लिए धर्मान्तरण की तरफ़ मुखातिब होता है, लेकिन अंतिम क्षण में उसे खारिज कर देता है और इसके पीछे दलित का आत्मसम्मान (कैसे मुँहवा देखाइबि) सामने आ जाता है। हीरा डोम कहते हैं–

हमनी के दुःख भगबनबो न देख तारे,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।स,
पादरी सहेब के कचहरी में जाइबजां,
बेधरम होके रंगरेज बनी जाइबि।
हाय राम! धरम न छोड़ते बनत बाते
बेधरम होके कैसे मुँहवा देखाइबि।

ऐसा नहीं कि हीरा डोम भगवान से डर कर धर्मान्तरण को खारिज करते हैं, बल्कि अगले ही क्षण उनकी कविता डोम को छूने से डरे, भगवान के सामने खड़ी हो जाती है।

खंभवा के फारि प्रहलाद के बचवले जां,
ग्राह के मुँह से गजराज के बचवले।
धोती जुरजोधना कै भइया छोरत रहै,
परगट होके तहां कपड़ा बढ़बले।

मरले रवनवां के पलले विभीषण के,
कानी अंगुरी पै धैके पथरा उठवले।
कहवां सुतल बाटे सुनत न बाटे अब,
डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले।

खंभा फाड़ कर प्रह्लाद को, ग्राह के मुँह से गजराज को, द्रौपदी को बचाने के लिए कपड़ा देने, रावण को मारने व विभीषण को पालने, कानी उंगली पर पहाड़ उठाने वाले भगवान से हीरा डोम साफ़ शब्दों में कहते हैं, कहाँ सोये हैं, सुनते नहीं या डोम को छूने से डरे हैं? 'डोम से डरे भगवान' अपने आप कई सवाल छोड़ जाता है। भगवान और समाज डोम के स्पर्श से भले ही कतराते हों, लेकिन कहा जाता है कि इसी सामाजिक व्यवस्था में डोम के बिना, मरने वालों को मोक्ष नहीं मिलता है। श्मशान घाट पर डोम राजा के हाथों दी गयी अग्नि से चिता को आग के हवाले किया जाता है। कैसी विडंबना है कि जीते जी डोम के स्पर्श से कतराने वालों को जीवन के अंतिम क्षण में डोम की याद और आवश्यकता आ पड़ती है। दूसरी ओर हीरा डोम की भगवान से शिकायत आज भी प्रासंगिक है। आये दिन ख़बर आती है कि समाज के ठेकेदारों ने गाहे-बगाहे मंदिर में ताला जड़ कर दलितों को पूजा-पाठ व भगवान के दर्शन से रोका। तभी तो हीरा डोम कहते हैं कि भगवान प्रह्लाद को, ग्राह को, द्रौपदी आदि को बचाने आते हैं, लेकिन डोम को छूने से डरते हैं।

कविता में हीरा डोम ने श्रम को भी मुद्दा बनाया है। दलितों के काम को गंदा व घिनौना माना जाता रहा है। इसके जवाब में हीरा डोम अन्य जातियों के श्रम पर सवाल उठाते हैं। और कहते हैं–

बभने के लेखे हम भिखिया न मांगबजा,
ठाकुरे के लेखे नहि लउरी चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहि डंडी हम मारबजा,
अहिरा के लेखे नहि गइया चरइबी।
भंटउ के लेखेन कवित्त हम जोरबजा,
पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि।
अपने पसिनवां के पइसा कमाइबजा,
घर भर मिली-जुली बांटि चोंटि खाइबि।

मतलब, ब्राह्मणों की तरह हम भीख नहीं माँगेंगे, ठाकुरों की तरह लाठी नहीं चलाएंगे, बनियों की तरह डंडी नहीं मारेंगे, अहीरों की तरह गाय नहीं चराएंगे...। हाँ, हम अपने पसीने से पैसा कमाएंगे और मिल-बाँट कर खाएंगे। यह बात आज के तथाकथित सवर्ण समाज के गाल पर तमाचा भी है। जब-जब आरक्षण का सवाल उठा, तब-तब सवर्णों ने आंदोलन चला कर विरोध किया। आंदोलन के दौरान झाड़ू लगाने, जूता में पॉलिस लगाने आदि श्रम को अपनाते हुए विरोध करते हैं। मानो यह

काम बहुत ही घिनौना है और जैसे कि यह सिर्फ़ दलितों का ही काम हो! ऐसा करके तथाकथित सवर्ण समाज आज भी सदियों पुराना दृष्टिकोण रखता है। ऐसे में हीरा डोम की शिकायत उनकी वैचारिक सोच पर भारी पड़ जाती है।

अंत में हीरा डोम एक बड़ा ही मानवीय सवाल उठाते हैं, जो आज भी यथावत है। देखिये इसकी बानगी–

हड़वा मसुइया कै देहियां है हमनी कै,
ओकरै के देहियां बभनबो कै बानी।
ओकरा के घरै-घरै पुजवा होखत बाजे,
सगरै इलकवा भइलैं जजमानी।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइलेजां,
पांके में से भरि-भरि पिय तानी पानी।

कवि इसमें आदमी-आदमी के बीच के विभेद को सिरे से खारिज करते हुए कहते हैं कि एक ही हाड़-मांस का देह हमारा भी है और ब्राह्मण का भी, फिर भी ब्राह्मण पूजा जाता है। पूरे इलाक़े में ब्राह्मण की जजमानी है और हम दलितों को कुँआ के पास भी नहीं जाने दिया जाता है, कीचड़ से पानी निकाल कर पानी पीते हैं। सच है कि आज भी दलितों को उन कुँओं से पानी नहीं भरने दिया जाता है, जहाँ सवर्ण जाति के लोग पानी भरते हैं। गलती से कोई दलित कुँआ के पास चला भी गया तो उसका हाथ-पैर तोड़ दिया जाता है।

क़रीब एक सौ साल पूर्व लिखी हीरा डोम की यह कविता आज भी जीवंत व प्रासंगिक है। हीरा डोम ने कविता के माध्यम से अपनी जाति की संवेदनशीलता को सामने लाया और साथ ही अपने आत्मसम्मान को स्थापित भी किया, जो अपने आप में बड़ी बात है। दलित विमर्श की जब-जब चर्चा होती है, तब-तब बिहार के हीरा डोम की वह शिकायत सामने आती है, जो उन्होंने 1914 में की थी। डोम जाति की पीड़ा को हीरा डोम ने शब्दों में वर्षों पूर्व पिरोया था। देश आज़ाद हुआ, हालात बदले, लेकिन हीरा डोम के लिखे एक-एक शब्द आज भी प्रासंगिक हैं। भगवान, समाज, व्यवस्था व सरकार से की गई भोजपुरी में उनकी शिकायत को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'अछूत की शिकायत' नाम से कविता के रूप में 'सरस्वती' के सितम्बर 1914 के अंक में प्रकाशित किया था। दलित विमर्श में हस्तक्षेप करती हीरा डोम की कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली संभवतः पहली और एकमात्र भोजपुरी कविता थी और वह भी एक दलित की। भोजपुरी में लिखी गयी इस कविता ने वर्षों से भारतीय समाज में उपेक्षित और अछूत रहे डोम जाति के उस दर्द को सामने लाया है, जिसे देख हर कोई अपनी आँखें मूंद लेता है, जिसमें इंसान तो शामिल है ही भगवान भी पीछे नहीं हैं। **(वर्तमान साहित्य, अप्रैल 2009 में प्रकाशित)**

संदर्भ : कविता : 'अछूत की शिकायत', 'सरस्वती' सितम्बर 1914